

तत्त्व-निरूपण

तत्त्वव्यवस्थाका प्रयोजन

पदार्थव्यवस्थाकी दृष्टिसे यह विश्व षट्द्रव्यमय है, परन्तु मुमुक्षुको जिनके तत्त्वज्ञानकी आवश्यकता मुक्तिके लिए है, वे तत्त्व सात हैं। जिस प्रकार रोगीको रोग-मुक्तिके लिए रोग, रोगके कारण, रोगमुक्ति और रोगमुक्तिका उपाय इन चार बातोंका जानना चिकित्साशास्त्रमें आवश्यक बताया है, उसी तरह मोक्षकी प्राप्तिके लिए संसार, संसारके कारण, मोक्ष और मोक्षके उपाय इस मूलभूत चतुर्व्यूहका जानना नितान्त आवश्यक है। विश्वव्यवस्था और तत्त्वनिरूपणके जुड़े-जुड़े प्रयोजन हैं। विश्वव्यवस्थाका ज्ञान न होनेपर भी तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी साधना की जा सकती है, पर तत्त्वज्ञान न होनेपर विश्वव्यवस्थाका समग्र ज्ञान भी निरर्थक और अनर्थक हो सकता है।

रोगीके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वह अपनेको रोगी समझे। जब तक उसे अपने रोगका भान नहीं होता, तब तक वह चिकित्साके लिए प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। रोगके ज्ञानके बाद रोगीको यह जानना भी आवश्यक है कि उसका रोग नष्ट हो सकता है। रोगकी साध्यताका ज्ञान ही उसे चिकित्सामें प्रवृत्ति कराता है। रोगीको यह जानना भी आवश्यक है कि यह रोग अमुक कारणोंसे उत्पन्न हुआ है, जिससे वह भविष्यमें उन अपथ्य आहार-विहारोंसे बचा रहकर अपनेको नीरोग रख सके। रोगको नष्ट करनेके उपायभूत औषधोपचारका ज्ञान तो आवश्यक है ही; तभी तो मौजूदा रोगका औषधोपचारसे समूल नाश करके वह स्थिर आरोग्यको पा सकता है। इसी तरह 'आत्मा बँधा है, इन कारणोंसे बँधा है, वह बन्धन टूट सकता है और इन उपायोंसे टूट सकता है।' इन मूलभूत चार मुद्दोंमें तत्त्वज्ञानकी परिसमाप्ति भारतीय दर्शनोंकी है।

बौद्धोंके चार आर्यसत्य

म० बुद्धने भी निर्वाणके लिए चिकित्साशास्त्रकी तरह दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्त्योंका^१ उपदेश दिया है। वे कभी भी 'आत्मा क्या है, परलोक क्या है' आदिके दार्शनिक विवादोंमें न तो स्वयं गये और न शिष्योंको ही जाने दिया। इस सम्बन्धका बहुत उपयुक्त उदाहरण मिलिन्द प्रश्नमें दिया गया है कि 'जैसे किसी व्यक्तिको विषसे बुझा हुआ तीर लगा हो और जब बन्धुजन उस तीरको निकालनेके लिए विषवैद्यको बुलाते हैं, तो उस समय उसकी यह मीमांसा करना जिस प्रकार निरर्थक है कि 'यह तीर किस लोहेसे बना है? किसने इसे बनाया? कब बनाया यह कबतक स्थिर रहेगा? यह विषवैद्य किस गोत्रका है?' उसी तरह आत्माकी नित्यता और परलोक आदिका विचार निरर्थक है, वह न तो बोधिके लिए और न निर्वाणके लिए ही उपयोगी है।

इन आर्यसत्त्योंका वर्णन इस प्रकार है। दुःख-सत्य—जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, मरण भी दुःख है, शोक, परिवेदन, विकलता, इष्टविद्योग, अनिष्टसंयोग, इष्टाप्राप्ति आदि सभी दुःख हैं। संक्षेपमें पाँचों उपादान स्कन्ध ही दुःखरूप हैं। समुदय-सत्य—कामकी तृष्णा, भवकी तृष्णा और विभवकी तृष्णा दुःखको उत्पन्न करनेके कारण समुदय कही जाती है। जितने इन्द्रियोंके प्रिय विषय हैं, इष्ट रूपादि हैं, इनका

१. "सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा।

निरोधो मार्ग एतेषां यथाभिसमयं क्रमः॥"—अभिध० को० ६।२

वियोग न हो, वे सदा बने रहें, इस तरह उनसे संयोगके लिए चित्तकी अभिनन्दिनी वृत्तिको तृष्णा कहते हैं। यही तृष्णा समस्त दुःखोंका कारण है। निरोध-सत्य—तृष्णाके अत्यन्त निरोध या विनाशको निरोध-आर्यसत्य कहते हैं। दुःख-निरोधका मार्ग है—आष्टांगिक मार्ग। सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्वचन, सम्यक्कर्म, सम्यक् आजोवन, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। नैरात्म्य-भावना ही मुख्य-रूपसे मार्ग है। बुद्धने आत्मदृष्टि या सत्त्वदृष्टिको ही मिथ्यादर्शन कहा है। उनका कहना^१ है कि एक आत्माको शाश्वत या स्थायी समझकर ही व्यक्ति स्नेहवश उसके सुखमें तृष्णा करता है। तृष्णाके कारण उसे दोष नहीं दिखाई देते और गुणदर्शन कर पुनः तृष्णावश सुखसाधनोंमें ममत्व करता है। उन्हें ग्रहण करता है। तात्पर्य यह कि जब तक 'आत्माभिनिवेश' है तब तक वह संसारमें रलता है। इस एक आत्माके माननेसे वह अपनेको स्व और अन्यको पर समझता है। स्व-परविभागसे राग और द्वेष होते हैं, और ये राग-द्वेष ही समस्त संसार परम्पराके मूल स्रोत हैं। अतः इस सर्वानर्थमूल^२ आत्मदृष्टिका नाश कर नैरात्म्य-भावनासे दुःख-निरोध होता है।

बुद्धका दृष्टिकोण

उपनिषद्का तत्त्वज्ञान जहाँ आत्मदर्शनपर जोर देता है और आत्मदर्शनको ही मोक्षका परम साधन मानता है और मुमुक्षुके लिए आत्मज्ञानको ही जीवनका सर्वोच्च साध्य समझता है, वहाँ बुद्धने इस आत्मदर्शनको ही संसारका मूल कारण माना है। आत्मदृष्टि, सत्त्वदृष्टि, सत्कायदृष्टि, ये सब मिथ्यादृष्टियाँ हैं। औपनिषद् तत्त्वज्ञानकी ओटमें, याज्ञिक क्रियाकाण्डको जो प्रश्रय मिल रहा था उसीकी यह प्रतिक्रिया थी कि बुद्धको 'आत्मा' शब्दसे ही घृणा हो गई थी। आत्माको स्थिर मानकर उसे स्वर्गप्राप्ति आदिके प्रलोभन से अनेक क्रूर यज्ञोंमें होनेवाली हिंसाके लिए उकसाया जाता था। इस शाश्वत आत्मवादसे ही राग और द्वेषकी अमरबेलें फैलती हैं। मजा तो यह है कि बुद्ध और उपनिषद्वादी दोनों ही राग, द्वेष और मोहका अभाव कर वीतरागता और वासनानिर्मुक्तिको अपना चरम लक्ष्य मानते थे, पर साधन दोनोंके इतने जुड़े थे कि एक जिस आत्मदर्शनको मोक्षका कारण मानता था, दूसरा उसे संसारका मूलबीज। इसका एक कारण और भी था कि बुद्धका मानस दार्शनिककी अपेक्षा सन्त ही अधिक था। वे ऐसे गोलगोल शब्दोंको बिलकुल हटा देना चाहते थे, जिनका निर्णय न हो सके या जिनकी ओटमें मिथ्या धारणाओं और अन्धविश्वासोंकी सृष्टि होती हो। 'आत्मा' शब्द उन्हें ऐसा ही लगा। बुद्धकी नैरात्म्य-भावनाका उद्देश्य 'बोधिचर्यावतार' (पृ० ४४९) में इस प्रकार बताया है—

‘यतस्ततो वाऽस्तु भयं यद्यहं नाम किंचन।

अहमेव न किञ्चिच्चेत् कस्य भोतिर्भविष्यति।’

१. “यः पश्यत्यामानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषास्तिरस्कुरुते ॥
गुणदर्शो परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत्स संसारे ॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषो।
अनयो. सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥”

—प्र० वा० १।२१९-२१

२. “तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिकाम्।

उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षवः ॥”

—प्रमाणवा० १।२५८

अर्थात्—यदि 'मैं' नामका कोई पदार्थ होता तो उसे इससे या उससे भय हो सकता था, परन्तु जब 'मैं' ही नहीं है, तब भय किसे होगा ?

बुद्ध जिस प्रकार इस 'शश्वत आत्मवाद' रूपी एक अन्तको खतरा मानते थे, उसी तरह वे भौतिक-वादको भी दूसरा अन्त समझकर उसे खतरा ही मानते थे। उन्होंने न तो भौतिकवादियोंके उच्छेदवादको ही माना और न उपनिषद्वादियोंके शाश्वतवादको ही। इसीलिए उनका मत 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' के रूपमें व्यवहृत होता है। उन्होंने आत्मासम्बन्धी प्रश्नोंको अव्याकृत कोटिमें डाल दिया था और भिक्षुओंको स्पष्ट रूपसे कह दिया था कि 'आत्माके सम्बन्धमें कुछ भी कहना या सुनना न बोधिके लिए, न ब्रह्मचर्यके लिए और न निर्वाणके लिए ही उपयोगी है।' इस तरह बुद्धने उस आत्माके ही सम्बन्धमें कोई भी निश्चित बात नहीं कही, जिसे दुःख होता है और जो दुःख-निवृत्तिकी साधना करना चाहता है।

१. आत्मतत्त्व :

जैनोंके सात तत्त्वोंका मूल आत्मा

निगण्ठ नाथपुत्र महाश्रमण महावीर भी वैदिक क्रियाकाण्डको निरर्थक और श्रेयःप्रतिरोधी मानते थे, जितना कि बुद्ध। वे आचार अर्थात् चारित्र्यको ही मोक्षका अन्तिम साधन मानते थे। परन्तु उनमें यह साक्षात्कार किया कि जब तक विश्वव्यवस्था और खासकर उस आत्माके विषयमें शिष्य निश्चित विचार नहीं बना लेते, जिस आत्माको दुःख होता है और जिसे निर्वाण पाना है, तब तक वे मानससंशयसे मुक्त होकर साधना कर ही नहीं सकते। जब मगध और विदेहके कोनेमें ये प्रश्न गूँज रहे हों कि—'आत्मा देह-रूप है या देहसे भिन्न ? परलोक क्या है ? निर्वाण क्या है ?' और अन्य तीर्थिक इन सबके सम्बन्धमें अपने मतोंका प्रचार कर रहे हों, और इन्हीं प्रश्नोंपर वाद रोपे जाते हों, तब शिष्योंको यह कहकर तत्काल भले ही चुप कर दिया जाय कि "क्या रखा है इस विवादमें कि आत्मा क्या है और कैसी है ? हमें तो दुःख-निवृत्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिये।" परन्तु इससे उनके मनकी शल्य और बुद्धिकी विचिकित्सा नहीं निकल सकती थी, और वे इस बौद्धिक हीनता और विचार-दीनताके हीनतर भावोंसे अपने चित्तकी रक्षा नहीं कर सकते थे। संघमें तो विभिन्न मतवादियोंके शिष्य, विशेषकर वैदिक ब्राह्मण विद्वान् भी दीक्षित होते थे। जब तक इन सब पंचमेल व्यक्तियोंके, जो आत्माके विषयमें विभिन्न मत रखते थे और उसकी चर्चा भी करते थे; संशयका वस्तुस्थितिमूलक समाधान न हो जाता, तब तक वे परस्पर समता और मानस अहिंसाका वातावरण नहीं बना सकते थे। कोई भी धर्म अपने सुस्थिर और सुदृढ़ दर्शनके बिना परीक्षक-शिष्योंको अपना अनुयायी नहीं बना सकता। श्रद्धामूलक भावना तत्काल कितना ही समर्पण क्यों न करा ले पर उसका स्थायित्व विचारशुद्धिके बिना कथमपि संभव नहीं है।

यही कारण है कि भगवान् महावीरने उस मूलभूत आत्मतत्त्वके स्वरूपके विषयमें मौन नहीं रखा और अपने शिष्योंको यह बताया कि धर्म वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्ति ही है। जिस वस्तुका जो स्वरूप है, उसका उस पूर्ण स्वरूपमें स्थिर होना ही धर्म है। अग्नि जब तक अपनी उष्णताको कायम रखती है, तबतक वह धर्मस्थित है। यदि दीपशिखा वायुके झोंकोंसे स्पन्दित हो रही है और चंचल होनेके कारण अपने निश्चल स्वरूपसे च्युत हो रही है, तो कहना होगा कि वह उतने अंशमें धर्मस्थित नहीं है। जल जब तक स्वाभाविक शीतल है, तभी तक धर्म-स्थित है। यदि वह अग्निके संसर्गसे स्वरूपच्युत होकर गर्म हो जाता है, तो वह धर्म-स्थित नहीं है। इस परसंयोगजन्य विकार-परिणतिको हटा देना ही जलकी धर्म-प्राप्ति है। उसी तरह आत्माका वीतरागत्व, अनन्तचैतन्य, अनन्तसुख आदि स्वरूप परसंयोगसे राग, द्वेष, तृष्णा, दुःख

आदि विकाररूपसे परिणत होकर अधर्म बन रहा है। जबतक आत्माके यथार्थ स्वरूपका निश्चय और वर्णन न किया जाय तब तक यह विकारी आत्मा कैसे अपने स्वतन्त्र स्वरूपको पानेके लिए उच्छ्वास भी ले सकता है? रोगीको जब तक अपने मूलभूत आरोग्य स्वरूपका ज्ञान न हो तब तक उसे यही निश्चय नहीं हो सकता कि मेरी यह अस्वस्थ अवस्था रोग है। वह उस रोगको विकार तो तभी मानेगा जब उसे अपनी आरोग्य अवस्थाका यथार्थ दर्शन हो, और जब तक वह रोगको विकार नहीं मानता तब तक वह रोग-निवृत्तिके लिए चिकित्सामें क्यों प्रवृत्ति करेगा? जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा स्वरूप तो आरोग्य है, अपथ्यसेवन आदि कारणोंसे मेरा मूल स्वरूप विकृत हो गया है, तभी वह उस स्वरूपभूत आरोग्यकी प्राप्तिके लिए चिकित्सा कराता है। रोगनिवृत्ति स्वयं साध्य नहीं है, साध्य है स्वरूपभूत आरोग्यकी प्राप्ति। उसी तरह जब तक उस मूल-भूत आत्माके स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान नहीं होगा और परसंयोगसे होनेवाले विकारोंको आगन्तुक होनेसे विनाशी न माना जायगा, तब तक दुःखनिवृत्तिके लिए प्रयत्न ही नहीं बन सकता।

यह ठीक है कि जिसे बाण लगा है, उसे तत्काल प्राथमिक सहायता (First aid) के रूपमें आवश्यक है कि वह पहले तीरको निकलवा ले; किन्तु इतनेमें ही उसके कर्त्तव्यकी समाप्ति नहीं हो जाती। बैद्यको यह अवश्य देखना होगा कि वह तीर किस विषसे बुझा हुआ है और किस वस्तुका बना हुआ है। यह इसलिए कि शरीरमें उसने कितना विकार पैदा किया होगा और उस घावको भरनेके लिए कौन-सी मलहम आवश्यक होगी। फिर यह जानना भी आवश्यक है कि वह तीर अचानक लग गया या किसीने दुश्मनीसे मारा है और ऐसे कौन उपाय हो सकते हैं, जिनसे आगे तीर लगनेका अवसर न आवे। यही कारण है कि तीरकी भी परीक्षाकी जाती है, तीर मारनेवालेकी भी तलाशकी जाती है और घावकी गहराई आदि भी देखी जाती है। इसीलिये यह जानना और समझना मुमुक्षुके लिए नितान्त आवश्यक है कि आखिर मोक्ष है क्या वस्तु? जिसकी प्राप्तिके लिए मैं प्राप्त सुखका परित्याग करके स्वेच्छासे साधनाके कष्ट झेलनेके लिए तैयार होऊँ? अपने स्वातन्त्र्य स्वरूपका भान किये बिना और उसके सुखद रूपकी झाँकी पाये बिना केवल परतन्त्रता तोड़नेके लिए वह उत्साह और सन्नद्धता नहीं आ सकती, जिसके बलपर मुमुक्षु तपस्या और साधनाके घोर कष्टोंकी स्वेच्छासे झेलता है। अतः उस आधारभूत आत्माके मूल स्वरूपका ज्ञान मुमुक्षुको सर्वप्रथम होना ही चाहिए, जो कि बँधा है और जिसे छूटना है। इसीलिए भगवान् महावीरने बंध (दुःख), आस्रव (दुःखके कारण), मोक्ष (निरोध), संवर और निर्जरा (निरोध-मार्ग) इन पाँच तत्त्वोंके साथ ही साथ उस जीव तत्त्वका ज्ञान करना भी आवश्यक बताया, जिस जीवको यह संसार होता है और जो बन्धन काटकर मोक्ष पाना चाहता है।

बंध दो वस्तुओंका होता है। अतः जिस अजीवके सम्पर्कसे इसकी विभावपरिणति हो रही है और जिसमें राग-द्वेष करनेके कारण उसकी धारा चल रही है और जिन कर्मपुद्गलोंसे बद्ध होनेके कारण यह जीव स्वस्वरूपसे च्युत है उस अजीवतत्त्वका ज्ञान भी आवश्यक है। तात्पर्य यह कि जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व मुमुक्षुके लिए सर्वप्रथम ज्ञातव्य हैं।

तत्त्वोंके दो रूप

आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व दो-दो प्रकारके होते हैं। एक द्रव्यरूप और दूसरे भावरूप। जिन मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप आत्मपरिणामोंसे कर्मपुद्गलोंका आना होता है, वे भाव भावास्रव कहे जाते हैं और पुद्गलोंमें कर्मत्वका आ जाना द्रव्यास्रव है; अर्थात् भावास्रव जीवगत

२६२ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

पर्याय है और द्रव्यास्त्रव पुद्गलगत । जिन कषायोंसे कर्म बँधते हैं वे जीवगत कषायादि भाव भावबन्ध हैं और पुद्गलकर्मका आत्मासे सम्बन्ध हो जाना द्रव्यबन्ध है । भावबन्ध जीवरूप है और द्रव्यबन्ध पुद्गलरूप । जिन क्षमा आदि धर्म, समिति, गुप्ति और चारित्र्योंसे नये कर्मोंका आना रुकता है वे भाव भावसंवर हैं और कर्मोंका रुक जाना द्रव्यसंवर है । इसी तरह पूर्वसंचित कर्मोंका निर्जरण जिन तप आदि भावोंसे होता है वे भाव भावनिर्जरा हैं और कर्मोंका झड़ना द्रव्यनिर्जरा है । जिन ध्यान आदि साधनोंसे मुक्ति प्राप्त होती है वे भाव भावमोक्ष हैं और कर्मपुद्गलोंका आत्मासे सम्बन्ध टूट जाना द्रव्यमोक्ष है ।

तात्पर्य यह कि आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच तत्त्व भावरूपमें जीवकी पर्याय हैं और द्रव्यरूपमें पुद्गल की । जिस भेदविज्ञानसे—आत्मा और परके विवेकज्ञानसे—कैवल्यकी प्राप्ति होती है उस आत्मा और परमें ये सातों तत्त्व समा जाते हैं । वस्तुतः जिस परकी परतन्त्रताको हटाना है और जिस स्वको स्वतन्त्र होना है उन स्व और परके ज्ञानमें ही तत्त्वज्ञानकी पूर्णता हो जाती है । इसीलिए संक्षेपमें मुक्तिका मूल साधन 'स्वपर-विवेकज्ञान' को बताया गया है ।

तत्त्वोंकी अनादितता

भारतीय दर्शनोंमें सबने कोई-न-कोई पदार्थ अनादि माने ही हैं । नास्तिक चार्वाक भी पृथ्वी आदि महाभूतोंको अनादि मानता है । ऐसे किसी क्षणकी कल्पना नहीं की जा सकती, जिसके पहले कोई अन्य क्षण न रहा हो । समय कबसे प्रारम्भ हुआ और कब तक रहेगा, यह बतलाना सम्भव नहीं है । जिस प्रकार काल अनादि और अनन्त है और उसकी पूर्वावधि निश्चित नहीं की जा सकती, उसी तरह आकाशकी भी कोई क्षेत्रगत मर्यादा नहीं बताई जा सकती—“सर्वतो हि अनन्तं तत्” आदि अन्त सभी ओरसे आकाश अनन्त है । आकाश और कालकी तरह हम प्रत्येक सत्के विषयमें यह कह सकते हैं कि उसका न किसी खास क्षणमें नूतन उत्पाद हुआ है और न किसी समय उसका समूल विनाश ही होगा ।

“भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।”

—पंचास्तिकाय गा० १५

“नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।”

—भगवद्गीता २।१६

अर्थात्—किसी असत्का सत् रूपसे उत्पाद नहीं होता और न किसी सत्का अत्यन्त विनाश ही होता है । जितने गिने हुए सत् हैं, उनकी संख्यामें न एककी वृद्धि हो सकती है और न एककी हानि । हाँ, रूपान्तर प्रत्येकका होता रहता है, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है । इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मा एक स्वतन्त्र सत् है और पुद्गलपरमाणु भी स्वतन्त्र सत् । अनादिकालसे यह आत्मा पुद्गलसे उसी तरह सम्बद्ध मिलता है जैसे कि खानिसे निकाला गया सोना मैलसे संयुक्त मिलता है ।

आत्माको अनादिबद्ध माननेका कारण

आज आत्मा स्थूल शरीर और सूक्ष्म कर्मशरीरसे बद्ध मिलता है । इसका ज्ञान संवेदन, सुख, दुःख और यहाँ तक कि जीवन-शक्ति भी शरीराधीन है । शरीरमें विकार होनेसे ज्ञानतंतुओंमें क्षीणता आ जाती है और स्मृतिभ्रंश तथा पागलपन आदि देखे जाते हैं । संसारी आत्मा शरीरबद्ध होकर ही अपनी गतिविधि करता है । यदि आत्मा शुद्ध होता तो शरीरसम्बन्धका कोई कारण नहीं था । शरीरसम्बन्ध या पुनर्जन्मके कारण हैं—राग, द्वेष, मोह और कषायादिभाव । शुद्ध आत्मामें ये विभाव परिणाम हो ही नहीं सकते ।

चूँकि आज ये विभाव और उनका फल—शरीरसम्बन्ध प्रत्यक्षसे अनुभवमें आ रहा है, अतः मानना होगा कि आज तक इनकी अशुद्ध परम्परा ही चली आई है।

भारतीय दर्शनोंमें यही एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर विधिमुखसे नहीं दिया जा सकता। ब्रह्ममें अविद्या कब उत्पन्न हुई? प्रकृति और पुरुषका संयोग कब हुआ? आत्मासे शरीरसम्बन्ध कब हुआ? इन सब प्रश्नोंका एक मात्र उत्तर है—‘अनादि’ से। किसी भी दर्शनने ऐसे समयकी कल्पना नहीं की है जिस समय समग्र भावसे ये समस्त संयोग नष्ट होंगे और संसार समाप्त हो जायगा। व्यक्तिशः अमुक आत्माओंसे पुद्गलसंसर्ग या प्रकृतिसंसर्गका वह रूप समाप्त हो जाता है, जिसके कारण उसे संसरण करना पड़ता है। इस प्रश्नका दूसरा उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि यदि ये शुद्ध होते तो इनका संयोग ही नहीं हो सकता था। शुद्ध होनेके बाद कोई ऐसा हेतु नहीं रह जाता जो प्रकृतिसंसर्ग, पुद्गलसम्बन्ध या अविद्योत्पत्ति होने दे। इसीके अनुसार यदि आत्मा शुद्ध होता तो कोई कारण उसके अशुद्ध होनेका या शरीरसम्बन्धका नहीं था। जब ये दो स्वतन्त्रसत्ताक द्रव्य हैं तब उनका संयोग चाहे वह जितना ही पुराना क्यों न हो; नष्ट किया जा सकता है और दोनोंको पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—खदानसे सर्वप्रथम निकाले गये सोनेमें कीट आदि मूल कितना ही पुराना या असंख्य कालसे लगा हुआ क्यों न हो, शोधक प्रयोगोंसे अवश्य पृथक् किया जा सकता है और सुवर्ण अपने शुद्ध रूपमें लाया जा सकता है। तब यह निश्चय हो जाता है कि सोनेका शुद्ध रूप यह है तथा मूल यह है। सारांश यह कि जीव और पुद्गलका बंध अनादिसे है और वह बन्ध जीवके अपने राग-द्वेष आदि भावोंके कारण उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। जब ये रागादिभाव क्षीण होते हैं, तब वह बंध आत्मामें नये विभाव उत्पन्न नहीं कर सकता और धीरे-धीरे या एक झटकेमें ही समाप्त हो सकता है। चूँकि यह बन्ध दो स्वतन्त्र द्रव्योंका है, अतः टूट सकता है या उस अवस्थामें तो अवश्य पहुँच सकता है जब साधारण संयोग बना रहनेपर भी आत्मा उससे निस्संग और निर्लेप बन जाता है।

आज इस अशुद्ध आत्माकी दशा अर्धभौतिक जैसी हो रही है। इन्द्रियाँ यदि न हों तो सुनने और देखने आदिकी शक्ति रहनेपर भी वह शक्ति जैसी-की-तैसी रह जाती है और देखना और सुनना नहीं होता। विचारशक्ति होनेपर भी यदि मस्तिष्क ठीक नहीं है तो विचार और चिन्तन नहीं किये जा सकते। यदि पक्षाघात हो जाय तो शरीर देखनेमें वैसा ही मालूम होता है पर सब शून्य हो जाता है। निष्कर्ष यह कि अशुद्ध आत्माकी दशा और इसका सारा विकास बहुत कुछ पुद्गलके अधीन हो रहा है। और तो जाने दीजिए, जीभके अमुक-अमुक हिस्सोंमें अमुक-अमुक रसोंके चखनेकी निमित्तता देखी जाती है। यदि जीभके आधे हिस्सेमें लकवा मार जाय तो शेष हिस्सेसे कुछ रसोंका ज्ञान हो पाता है, कुछका नहीं। इस जीवनके ज्ञान, दर्शन, सुख, राग, द्वेष, कलाविज्ञान आदि सभी भाव बहुत कुछ इसी जीवनपर्यायके अधीन हैं।

एक मनुष्य जीवन भर अपने ज्ञानका उपयोग विज्ञान या धर्मके अध्ययनमें लगाता है, जवानीमें उसके मस्तिष्कमें भौतिक उपादान अच्छे और प्रचुर मात्रामें थे, तो उसके तन्तु चैतन्यको जगाये रखते थे। बुढ़ापा आनेपर जब उसका मस्तिष्क शिथिल पड़ जाता है तो विचारशक्ति लुप्त होने लगती है और स्मरण मन्द पड़ जाता है। वही व्यक्ति अपनी जवानीमें लिखे गए लेखको यदि बुढ़ापेमें पढ़ता है तो उसे स्वयं आश्चर्य होता है। कभी-कभी तो उसे यह विश्वास ही नहीं होता कि यह उसीने लिखा होगा। मस्तिष्ककी यदि कोई ग्रन्थि बिगड़ जाती है तो मनुष्य पागल हो जाता है। दिमागका यदि कोई पुरजा कस गया, ढीला हो गया

तो उन्माद, सन्देह, विक्षेप और उद्वेग आदि अनेक प्रकारकी धाराएँ जीवनको ही बदल देती हैं। मस्तिष्कके विभिन्न भागोंमें विभिन्न प्रकारके चेतनभावोंको जागृत करनेके विशेष उपादान रहते हैं।

मुझे एक ऐसे योगीका अनुभव है जिसे शरीरके नशोंका विशिष्ट ज्ञान था। वह मस्तिष्ककी किसी खास नसको दबाता था तो मनुष्यको हिंसा और क्रोधके भाव उत्पन्न हो जाते थे। दूसरे ही क्षण किसी अन्य नसके दबाते ही दया और कृपाके भाव जागृत होते थे और वह व्यक्ति रोने लगता था, तीसरी नसके दबाते ही लोभका तीव्र उदय होता था और यह इच्छा होती थी कि चोरी कर लें। इन सब घटनाओंसे हम एक इस निश्चित परिणामपर तो पहुँच ही सकते हैं कि हमारी सारी पर्यायशक्तियाँ, जिनमें ज्ञान, दर्शन, सुख, धैर्य, राग, द्वेष और कषाय आदि शामिल हैं, इस शरीरपर्यायिके निमित्तसे विकसित होती हैं। शरीरके नष्ट होते ही समस्त जीवन भरमें उपाजित ज्ञानादि पर्यायशक्तियाँ प्रायः बहुत कुछ नष्ट हो जाती हैं। पर-लोक तक इनके कुछ सूक्ष्म संस्कार हो जाते हैं।

व्यवहारसे जीव मूर्तिक भी है

जैनदर्शनमें व्यवहारसे जीवको मूर्तिक माननेका अर्थ है कि अनादिसे यह जीव शरीरसम्बद्ध ही मिलता आया है। स्थूल शरीर छोड़नेपर भी सूक्ष्म कर्मशरीर सदा इसके साथ रहता है। इसी सूक्ष्म कर्मशरीरके नाशको ही मुक्ति कहते हैं। चार्वाकका देहात्मवाद देहके साथ ही आत्माकी समाप्ति मानता है जब कि जैनके देहपरिमाण-आत्मवादमें आत्माकी स्वतन्त्र सत्ता होकर भी उसका विकास अशुद्ध दशामें देहाश्रित यानी देह-निमित्तिक माना गया है।

आत्माकी दशा

आजका विज्ञान हमें बताता है कि जीव जो भी विचार करता है उसकी टेढ़ी-सीधी; और उथली-गहरी रेखायें मस्तिष्कमें भरे हुए मस्खन जैसे श्वेत पदार्थमें खिचती जाती हैं, और उन्हींके अनुसार स्मृति तथा वासनाएँ उद्बुद्ध होती हैं। जैसे अग्निसे तपे हुए लोहके गोलेको पानीमें छोड़नेपर वह गोला जलके बहुतसे परमाणुओंको अपने भीतर सोख लेता है और भाप बनाकर कुछ परमाणुओंको बाहर निकालता है। जब तक वह गर्म रहता है, पानीमें उथल-पुथल पैदा करता है। कुछ परमाणुओंको लेता है, कुछको निकालता है, कुछको भाप बनाता, यानि एक अजीब ही परिस्थिति आस-पासके वातावरणमें उपस्थित कर देता है। उसी तरह जब यह आत्मा राग-द्वेष आदिसे उत्तप्त होता है; तब शरीरमें एक अद्भुत हलन-चलन उत्पन्न करता है। क्रोध आते ही आँखें लाल हो जाती हैं, खूनकी गति बढ़ जाती है, मुँह सूखने लगता है, और नथने फड़कने लगते हैं। जब कामवासना जागृत होती है तो सारे शरीरमें एक विशेष प्रकारका मन्थन शुरू होता है, और जब तक वह कषाय या वासना शान्त नहीं हो लेती; तब तक यह चहल-पहल और मन्थन आदि नहीं रुकता। आत्माके विचारोंके अनुसार पुद्गलद्रव्योंमें भी परिणमन होता है और उन विचारोंके उत्तेजक पुद्गल आत्माके वासनामय सूक्ष्म कर्मशरीरमें शामिल होते जाते हैं। जब-जब उन कर्मपुद्गलोंपर दबाव पड़ता है तब-तब वे फिर रागादि भावोंको जगाते हैं। फिर नये कर्मपुद्गल आते हैं और उन कर्मपुद्गलोंके परिपाकके अनुसार नूतन रागादि भावोंकी सृष्टि होती है। इस तरह रागादि भाव और कर्मपुद्गलोंके सम्बन्धका चक्र तब तक बराबर चालू रहता है, जब तक कि अपने विवेक और चारित्र्यसे रागादि भावोंको नष्ट नहीं कर दिया जाता।

सारांश यह कि जीवकी ये राग-द्वेषादि वासनाएँ और पुद्गलकर्मबन्धकी धारा बीज-वृक्षसन्ततिकी तरह अनादिसे चालू है। पूर्व संचित कर्मके उदयसे इस समय राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं और तत्कालमें

जो जीवकी आसक्ति या लगन होती है, वही नूतन कर्मबन्ध कराती है। यह आशंका करना कि 'जब पूर्वकर्मसे रागादि और रागादिसे नये कर्मका बन्ध होता है तब इस चक्रका उच्छेद कैसे हो सकता है?' उचित नहीं है; कारण यह है कि केवल पूर्वकर्मके फलका भोगना ही नये कर्मका बन्धक नहीं होता, किन्तु उस भोगकालमें जो नूतन रागादि भाव उत्पन्न होते हैं, उनसे बन्ध होता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टिके पूर्वकर्मके भोग नूतन रागादिभावोंको नहीं करनेकी वजहसे निर्जराके कारण होते हैं जबकि मिथ्यादृष्टि नूतन रागादिसे बंध ही बंध करता है। सम्यग्दृष्टि पूर्वकर्मके उदयसे होनेवाले रागादिभावोंको अपने विवेकसे शान्त करता है और उनमें नई आसक्ति नहीं होने देता। यही कारण है कि उसके पुराने कर्म अपना फल देकर झड़ जाते हैं और किसी नये कर्मका उनकी जगह बन्ध नहीं होता। अतः सम्यग्दृष्टि तो हर तरफसे हलका हो चलता है; जब कि मिथ्यादृष्टि नित नयी वासना और आसक्तिके कारण तेजीसे कर्मबन्धनोंमें जकड़ता जाता है।

जिस प्रकार हमारे भौतिक मस्तिष्कपर अनुभवोंकी सीधी, टेढ़ी, गहरी, उथली आदि असंख्य रेखाएँ पड़ती रहती हैं, जब एक प्रबल रेखा आती है तो वह पहलेकी निर्बल रेखाको साफकर उस जगह अपना गहरा प्रभाव कायम कर देती है। यानी यदि वह रेखा सजातीय संस्कारकी है तो उसे और गहरा कर देती है और यदि विजातीय संस्कारकी है तो उसे पोंछ देती है। अन्तमें कुछ ही अनुभव-रेखाएँ अपना गहरा या उथला अस्तित्व कायम रखती हैं। इसी तरह आज जो रागद्वेषादिजन्य संस्कार उत्पन्न होते हैं और कर्मबन्धन करते हैं; वे दूसरे ही क्षण शील, व्रत और संयम आदिकी पवित्र भावनाओंसे धुल जाते हैं या क्षीण हो जाते हैं। यदि दूसरे ही क्षण अन्य रागादिभावोंका निमित्त मिलता है, तो प्रथमबद्ध पुद्गलोंमें और भी काले पुद्गलोंका संयोग तीव्रतासे होता जाता है। इस तरह जीवनके अन्तमें कर्मोंका बन्ध, निर्जरा, अपकर्षण (घटती), उत्कर्षण (बढ़ती), संक्रमण (एक दूसरेके रूपमें बदलना) आदि होते-होते जो रोकड़ बाकी रहती है वही सूक्ष्म कर्म-शरीरके रूपमें परलोक तक जाती है। जैसे तेज अग्निपर उबलती हुई बटलोईमें दाल, चावल, शाक आदि जो भी डाला जाता है उसकी ऊपर-नीचे अगल-बगलमें उफान लेकर अन्तमें एक खिचड़ी-सी बन जाती है, उसी तरह प्रतिक्षण बँधनेवाले अच्छे या बुरे कर्मोंमें, शुभभावोंसे शुभकर्मोंमें रस-प्रकर्ष और स्थितिवृद्धि होकर अशुभ कर्मोंमें रसहीनता और स्थितिच्छेद हो जाता है। अन्तमें एक पाकयोग्य स्कन्ध बच रहता है, जिसके क्रमिक उदयसे रागादि भाव और सुखादि उत्पन्न होते हैं।

अथवा जैसे पेटमें जठराग्निसे आहारका मल, मूत्र, स्वेद आदिके रूपसे कुछ भाग बाहर निकल जाता है, कुछ वहीं हजम होकर रक्तादि रूपसे परिणत होता है और आगे जाकर वीर्यारूप बन जाता है। बीचमें चूरण-चटनी आदिके संयोगसे उसकी लघुपाक, दीर्घपाक आदि अवस्थाएँ भी होती हैं, पर अन्तमें होनेवाले परिपाकके अनुसार ही भोजनको सुपच या दुष्पच कहा जाता है, उसी तरह कर्मका भी प्रतिममय होनेवाले अच्छे और बुरे भावोंके अनुसार तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मध्यम, मृदुतर और मृदुतम आदि रूपसे परिवर्तन बराबर होता रहता है और अन्तमें जो स्थिति होता है, उसके अनुसार उन कर्मोंको शुभ या अशुभ कहा जाता है।

यह भौतिक जगत् पुद्गल और आत्मा दोनोंसे प्रभावित होता है। जब कर्मका एक भौतिक पिण्ड, जो विशिष्ट शक्तिका स्रोत है, आत्मासे सम्बद्ध होता है, तो उसकी सूक्ष्म और तीव्रशक्तिके अनुसार बाह्य

२६६ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

पदार्थ भी प्रभावित होते हैं और प्राप्तसामग्रीके अनुसार उस संचित कर्मका तीव्र, मन्द और मध्यम आदि फल मिलता है। इस तरह यह कर्मचक्र अनादिकालसे चल रहा है और तब तक चालू रहेगा जब तक कि बन्धकारक मूलरागादिवासनाओंका नाश नहीं कर दिया जाता।

बाह्य पदार्थोंके—नोकर्मोंके समवधानके अनुसार कर्मोंका यथासम्भव प्रदेशोदय या फलोदय रूपसे परिपाक होता रहता है। उदयकालमें होनेवाले तीव्र, मध्यम और मन्द शुभाशुभ भावोंके अनुसार आगे उदयमें आनेवाले कर्मोंके रसदानमें भी अन्तर पड़ जाता है। तात्पर्य यह कि कर्मोंका फल देना, अन्य रूपमें देना या न देना, बहुत कुछ हमारे पुरुषार्थके ऊपर निर्भर करता है।

इस तरह जैन दर्शनमें यह आत्मा अनादिसे अशुद्ध माना गया है और प्रयोगसे यह शुद्ध हो सकता है। एक बार शुद्ध होनेके बाद फिर अशुद्ध होनेका कोई कारण नहीं रह जाता। आत्माके प्रदेशोंमें संकोच और विस्तार भी कर्मके निमित्तसे ही होता है। अतः कर्मनिमित्तके हट जानेपर आत्मा अपने अन्तिम आकारमें रह जाता है और ऊर्ध्वलोकके अग्र भागमें स्थिर हो अपने चैतन्यमें प्रतिष्ठित हो जाता है।

अतः भ० महावीरने बन्ध-मोक्ष और उसके कारणभूत तत्त्वोंके सिवाय उस आत्माका ज्ञान भी आवश्यक बताया जिसे शुद्ध होना है और जो वर्तमानमें अशुद्ध हो रहा है। आत्माकी अशुद्ध दशा स्वरूप-प्रच्युतिरूप है। चूँकि यह दशा स्वस्वरूपको भूलकर परपदार्थोंमें ममकार और अहङ्कार करनेके कारण हुई है, अतः इस अशुद्ध दशाका अन्त भी स्वरूपके ज्ञानसे ही हो सकता है। इस आत्माको यह तत्त्वज्ञान होता है कि मेरा स्वरूप तो अनन्त चैतन्य, वीतराग, निर्मोह, निष्कषाय, शान्त, निश्चल, अप्रमत्त और ज्ञानरूप है। इस स्वरूपको भुलाकर परपदार्थोंमें ममकार और शरीरको अपना माननेके कारण, राग, द्वेष, मोह, कषाय, प्रमाद और मिथ्यात्व आदि विकाररूप मेरी दशा हो गयी है। इन कषायोंको ज्वालासे मेरा स्वरूप समल और योगके कारण चञ्चल हो गया है। यदि परपदार्थोंसे ममकार और रागादि भावोंसे अहङ्कार हट जाय तथा आत्मपरविवेक हो जाय तो यह अशुद्ध दशा और ये रागादि वासनाएँ अपने आप क्षीण हो जायगी। इस तत्त्वज्ञानसे आत्मा विकारोंको क्षीण करता हुआ निर्विकार चैतन्यरूप हो जाता है। इसी शुद्धिको मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष जब तक शुद्ध आत्मस्वरूपका बोध न हो, तब तक कैसे हो सकता है ?

आत्मदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि

बुद्धके तत्त्वज्ञानका प्रारम्भ दुःखसे होता है और उसकी समाप्ति होती है दुःखनिवृत्तिमें। वे समझते हैं कि आत्मा अर्थात् उपनिषद्वादियोंका नित्य आत्मा और नित्य आत्मामें स्वबुद्धि और दूसरे पदार्थोंमें परबुद्धि होने लगती है। स्वपर विभागसे राग-द्वेषसे यह संसार बन जाता है। अतः समस्त अनर्थोंकी जड़ आत्मदृष्टि है। वे इस ओर ध्यान नहीं देते कि आत्माकी नित्यता और अनित्यता राग और विरागका कारण नहीं है। राग और विराग तो स्वरूपके अज्ञान और स्वरूपके सम्यग्ज्ञानसे होते हैं। रागका कारण है परपदार्थोंमें ममकार करना। जब इस आत्माको समझाया जाता है कि मूर्ख, तेरा स्वरूप तो निर्विकार, अखण्ड चैतन्य है, तेरा इन स्त्री-पुत्रादि तथा शरीरमें ममत्व करना विभाव है, स्वभाव नहीं, तब यह सहज ही अपने निर्विकार स्वभावकी ओर दृष्टि डालने लगता है और इसी विवेकदृष्टि या सम्यग्दर्शनसे परपदार्थोंसे रागद्वेष हटकर स्वरूपमें लीन होने लगता है। इसीके कारण आस्रव सकते हैं और चित्त निरास्रव होने लगता है। इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील अनन्त द्रव्यमय लोकमें मैं एक आत्मा हूँ, मेरा किसी दूसरे आत्मा या पुद्गलद्रव्योंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं अपने चैतन्यका स्वामी हूँ। मात्र चैतन्यरूप हूँ। यह शरीर अनन्त पुद्गलपरमाणुओंका एक पिण्ड है। इसका मैं स्वामी नहीं हूँ। यह सब पर द्रव्य है। परपदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि करना ही संसार है। आजतक मैंने परपदार्थोंको अपने अनुकूल परिणामन करानेकी अनधिकार चेष्टा

ही की है। मैंने यह भी अनधिकार चेष्टा की है कि संसारके अधिक-से-अधिक पदार्थ मेरे अधीन हों, जैसा मैं चाहूँ, वैसा वे परिणमन करें। उनको वृत्ति मेरे अनुकूल हो। पर मूर्ख, तू तो एक व्यक्ति है। तू तो केवल अपने परिणमनपर अर्थात् अपने विचारों और क्रियापर ही अधिकार रख सकता है। परपदार्थोंपर तेरा वास्तविक अधिकार क्या है? तेरी यह अनधिकार चेष्टा ही राग और द्वेषको उत्पन्न करती है। तू चाहता है कि शरीर, स्त्री, पुत्र, परिजन आदि सब तेरे इशारेपर चलें। संसारके समस्त पदार्थ तेरे अधीन हों, तू त्रैलोक्यको अपने इशारेपर नचानेवाला एकमात्र ईश्वर बन जाय। यह सब तेरी निरधिकार चेष्टाएँ हैं। तू जिस तरह संसारके अधिकतम पदार्थोंको अपने अनुकूल परिणमन कराके अपने अधीन करना चाहता है उसी तरह तेरे जैसे अनन्त मूढ़ चेतन भी यही दुर्वासना लिये हुए हैं और दूसरे द्रव्योंको अपने अधीन करना चाहते हैं। इसी छीना-झपटीमें संघर्ष होता है, हिंसा होती है, राग-द्वेष होते हैं और होता है अन्ततः दुःख ही दुःख।

सुख और दुःखकी स्थूल परिभाषा यह है कि 'जो चाहे सो होवे, इसे कहते हैं सुख और चाहे कुछ और होवे कुछ या जो चाहे वह न होवे इसे कहते हैं दुःख।' मनुष्यकी चाह सदा यही रहती है कि मुझे सदा इष्टका संयोग रहे और अनिष्टका संयोग न हो। समस्त भौतिक जगत् और अन्य चेतन मेरे अनुकूल परिणति करते रहें, शरीर नीरोग हो, मृत्यु न हो, धनधान्य हों, प्रकृति अनुकूल रहे आदि न जाने कितने प्रकारकी चाह इस शेखचिल्ली मानवकी होती रहती है। बुद्धने जिस दुःखको सर्वानुभूत बताया है, वह सब अभावकृत ही तो है। महावीरने इस तृष्णाका कारण बताया है 'स्वरूपकी मर्यादाका अज्ञान', यदि मनुष्यको यह पता हो कि—'जिनकी मैं चाह करता हूँ, और जिनकी तृष्णा करता हूँ, वे पदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं तो एक चिन्मात्र हूँ' तो उसे अनुचित तृष्णा ही उत्पन्न न होगी। सारांश यह कि दुःखका कारण तृष्णा है, और तृष्णाकी उद्भूति स्वाधिकार एवं स्वरूपके अज्ञान या मिथ्याज्ञानके कारण होती है, परपदार्थोंको अपना माननेके कारण होती है। अतः उसका उच्छेद भी स्वस्वरूपके सम्यग्ज्ञान यानी स्वपरविवेकसे ही हो सकता है। इस मानवने अपने स्वरूप और अधिकारकी सीमाको न जानकर सदा मिथ्याज्ञान किया है और परपदार्थोंके निमित्तसे जगत्में अनेक कल्पित ऊँच-नीच भावोंकी सृष्टि कर मिथ्या अहंकारका पोषण किया है। शरीराश्रित या जीविकाश्रित ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णोंको लेकर ऊँच-नीच व्यवहारकी भेदक भित्ति खड़ी कर, मानवको मानवसे इतना जुदा कर दिया, जो एक उच्चाभिमानी मांसपिण्ड दूसरेकी छायासे या दूसरेको छूनेसे अपनेको अपवित्र मानने लगा। बाह्य परपदार्थोंके संग्रही और परिग्रहीको महत्त्व देकर इसने तृष्णाकी पूजा की। जगत्में जितने संघर्ष और हिंसाएँ हुई हैं वे सब परपदार्थोंको छोना-झपटीके कारण हुई हैं। अतः जब तक मुमुक्षु अपने वास्तविक स्वरूपको तथा तृष्णाके मूल कारण 'परमें आत्मबुद्धि'को नहीं समझ लेता तब तक दुःख-निवृत्तिकी समुचित भूमिका ही तैयार नहीं हो सकती।

बुद्धने संक्षेपमें पाँच स्कन्धोंको दुःख कहा है। पर महावीरने उसके भीतरी तत्त्वज्ञानको भी बताया। चूँकि ये स्कन्ध आत्मस्वरूप नहीं हैं, अतः इनका संसर्ग ही अनेक रागादिभावोंका सर्जक है और दुःखस्वरूप है। निराकुल सुखका उपाय आत्ममात्रनिष्ठा और परपदार्थोंसे ममत्वका हटाना ही है। इसके लिए आत्माकी यथार्थदृष्टि ही आवश्यक है। आत्मदर्शनका यह रूप परपदार्थोंमें द्वेष करना नहीं सिखाता, किन्तु यह बताता है कि इनमें जो तुम्हारी यह तृष्णा फैल रही है, वह अनधिकार चेष्टा है। वास्तविक अधिकार तो तुम्हारा मात्र अपने विचार अपने व्यवहारपर ही है। अतः आत्माके वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान हुए बिना दुःखनिवृत्ति या मुक्तिकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती है।

नैरात्म्यवादकी असारता

अतः आ० धर्मकीर्तिकी यह आशंका भी निर्मूल है कि—

“आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ ।

अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषा प्रजायन्ते ॥”

—प्रमाणवा० १।२२१

अर्थात्—आत्माको ‘स्व’ माननेसे दूसरोंको ‘पर’ मानना होगा । स्व और पर विभाग होते ही स्वका परिग्रह और परसे द्वेष होगा । परिग्रह और द्वेष होनेसे रागद्वेषमूलक सैकड़ों अन्य दोष उत्पन्न होते हैं ।

यहाँ तक तो ठीक है कि कोई व्यक्ति आत्माको स्व माननेसे आत्मेतरकोपर मानेगा । पर स्वपर-विभागसे परिग्रह और द्वेष कैसे होंगे ? आत्मस्वरूपका परिग्रह कैसा ? परिग्रह तो शरीर आदि परपदार्थोंका और उसके सुखसाधनोंका होता है, जिन्हें आत्मदर्शी व्यक्ति छोड़ेगा ही, ग्रहण नहीं करेगा । उसे तो जैसे स्त्री आदि सुख-साधन ‘पर’ हैं वैसे शरीर भी । राग और द्वेष भी शरीरादिके सुख-साधनों और असाधनोंमें होते हैं, सो आत्मदर्शीको क्यों होंगे ? उल्टे आत्मद्रष्टा शरीरादिनिमित्तक रागद्वेष आदि द्वन्द्वोंके त्यागका ही स्थिर प्रयत्न करेगा । हाँ, जिनसे शरीरस्कन्धको ही आत्मा माना है उसे अवश्य आत्मदर्शनसे शरीरदर्शन प्राप्त होगा और शरीरके इष्टानिष्टनिमित्तक पदार्थोंमें परिग्रह और द्वेष हो सकते हैं, किन्तु जो शरीरको भी ‘पर’ ही मान रहा है तथा दुःखका कारण ममज्ञ रहा है वह क्यों उसमें तथा उसके इष्टानिष्ट साधनोंमें रागद्वेष करेगा ? अतः शरीरादिसे भिन्न आत्मस्वरूपका परिज्ञान ही रागद्वेषकी जड़को काट सकता है और वीतरागताको प्राप्त करा सकता है । अतः धर्मकीर्तिका आत्मदर्शनकी बुराईयोंका यह वर्णन भी नितान्त भ्रमपूर्ण है—

“यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः ।

स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषास्तिरस्कृते ॥

गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते ।

तेनात्माभिनवेशो यावत् तावत् स संसारे ॥”

—प्रमाणवार्तिक १।२१९-२०

अर्थात्—जो आत्माको देखता है, उसे यह मेरा आत्मा है ऐसा नित्य स्नेह होता है । स्नेहसे आत्म-सुखमें तृष्णा होती है । तृष्णासे आत्माके अन्य दोषोंपर दृष्टि नहीं जाती, गुण-ही-गुण दिखाई देते हैं । आत्म-सुखमें गुण देखनेसे उसके साधनोंमें ममकार उत्पन्न होता है, उन्हें वह ग्रहण करता है । इस तरह जब तक आत्माका अभिनवेश है तब तक संसार ही है ।

क्योंकि आत्मदर्शी व्यक्ति जहाँ अपने आत्मस्वरूपको उपादेय समझता है वहाँ यह भी समझता है कि शरीरादि परपदार्थ आत्माके हितकारक नहीं हैं । इनमें रागद्वेष करना ही आत्माको बंधमें डालनेवाला है । आत्माके स्वरूपभूत सुखके लिए किसी अन्य साधनके ग्रहणकी आवश्यकता नहीं है किन्तु जिन शरीरादि पर-पदार्थोंमें मिथ्याबुद्धि कर रखी है । उस मिथ्याबुद्धिका ही छोड़ना और आत्मगुणका दर्शन, आत्ममात्रमें लीनता-का कारण होगा न कि बन्धनकारक परपदार्थोंके ग्रहणका । शरीरादि परपदार्थोंमें होनेवाला आत्माभिनवेश अवश्य रागादिका सजक होता है, किन्तु शरीरादिसे भिन्न आत्म-तत्त्वका दर्शन शरीरादिमें रागादि क्यों उत्पन्न करेगा ?

पञ्चस्कन्ध रूप आत्मा नहीं :

यह तो धर्मकीर्ति तथा उनके अनुयायियोंका आत्मतत्त्वके अव्याकृत होनेका कारण दृष्टिव्यामोह ही है; जो वे उसका मात्र शरीरस्कन्ध ही स्वरूप मान रहे हैं और आत्मदृष्टिको मिथ्यादृष्टि कह रहे हैं । एक

और वे पृथिव्यादि महाभूतोंसे आत्माकी उत्पत्तिका खण्डन भी करते हैं और दूसरी ओर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोंसे भिन्न किसी आत्माको मानना भी नहीं चाहते। इनमें वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये चार स्कन्ध चेतनात्मक हो सकते हैं पर, रूपस्कन्धको चेतन कहना चार्वाकके भूतात्मवादसे कोई विशेषता नहीं रखता है। जब बुद्ध स्वयं आत्माको अव्याकृत कोटिमें डाल गए हैं तो उनके शिष्योंका दार्शनिक क्षेत्रमें भी आत्माके विषयमें परस्परविरोधी दो विचारोंमें दोलित रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आज महापंडित राहुल सांकृत्यायन बुद्धके इन विचारोंको 'अभौतिक अनात्मवाद जैसे उभय प्रतिषेधक' नामसे पुकारते हैं। वे यह नहीं बता सकते कि आखिर आत्माका स्वरूप है क्या ? क्या वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्ध भी रूपस्कन्धकी तरह स्वतंत्र सत् हैं ? क्या आत्माकी रूपस्कन्धकी तरह स्वतंत्र सत्ता है ? और यदि निर्वाणमें चित्तसंतति निरुद्ध हो जाती है तो चार्वाकके एक जन्म तक सीमित देहात्मवादसे इस अनेकजन्म-सीमित पर निर्वाणमें विनष्ट होनेवाले अभौतिक अनात्मवादमें क्या मौलिक विशेषता रह जाती है ? अन्तमें तो उसका निरोध ही हो जाता है।

महावीर इस असंगतिके जालमें न तो स्वयं पड़े और न शिष्योंको ही उनसे इसमें डाला। यही कारण है जो उन्होंने आत्माका समग्रभावसे निरूपण किया है और उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना है।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि धर्मका लक्षण है स्वभावमें स्थिर होना। आत्माका अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन होना ही धर्म है और इसकी निर्मल और निश्चल शुद्ध परिणति ही मोक्ष है। यह मोक्ष आत्मतत्त्वकी जिज्ञासाके बिना हो ही नहीं सकता। परतंत्रताके बन्धनको तोड़ना स्वातंत्र्य सुखके लिए होता है। कोई वैद्य रोगीसे यह कहे कि 'तुम्हें इससे क्या मतलब कि आगे क्या होगा, दवा खाये जाओ; तो रोगी तत्काल वैद्य पर विश्वास करके दवा भले ही खाता जाय, परन्तु आयुर्वेदकी कक्षामें विद्यार्थियोंकी जिज्ञासाका समाधान इतने मात्रसे नहीं किया जा सकता। रोगकी पहचान भी स्वास्थ्यके स्वरूपको जाने बिना नहीं हो सकती। जिन जन्मरोगियोंको स्वास्थ्यके स्वरूपकी झाँकी ही नहीं मिली वे तो उस रोगको रोग ही नहीं मानते और न उसकी निवृत्तिकी चेष्टा ही करते हैं। अतः हर तरह मुमुक्षुके लिए आत्मतत्त्वका समग्र ज्ञान आवश्यक है।

आत्माके तीन प्रकार

आत्मा तीन प्रकारके हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो शरीर आदि परपदार्थोंको अपना रूप मानकर उनकी ही प्रियभोगसामग्रीमें आसक्त हैं वे बहिर्मुख जीव बहिरात्मा हैं। जिन्हें स्वपर-विवेक या भेदविज्ञान उत्पन्न हो गया है, जिनकी शरीर आदि बाह्यपदार्थोंसे आत्मदृष्टि हट गई है वे सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हैं। जो समस्त कर्ममल-कलकोंसे रहित होकर शुद्ध चिन्मात्र स्वरूपमें मग्न हैं वे परमात्मा हैं। यही संमारी आत्मा अपने स्वरूपका यथार्थ परिज्ञानकर अन्तर्दृष्टि हो क्रमशः परमात्मा बन जाता है। अतः आत्मधर्मकी प्राप्ति या बन्धन-मुक्तिके लिये आत्मतत्त्वका परिज्ञान नितान्त आवश्यक है।

चारित्र्यका आधार

चारित्र्य अर्थात् अहिंसाकी साधनाका मुख्य आधार जीवतत्त्वके स्वरूप और उसके समान अधिकारकी मर्यादाका तत्त्वज्ञान ही बन सकता है। जब हम यह जानते और मानते हैं कि जगत्में वर्तमान सभी आत्माएँ अखंड और मूलतः एक-एक स्वतन्त्र समानशक्ति वाले द्रव्य हैं। जिस प्रकार हमें अपनी हिंसा रुचिकर नहीं है, हम उससे विकल होते हैं और अपने जीवनको प्रिय समझते हैं, सुख चाहते हैं, दुःखसे घबड़ाते हैं उसी तरह अन्य आत्माएँ भी यही चाहती हैं। यही हमारी आत्मा अनादिकालसे सूक्ष्म निगोद, वृक्ष, वनस्पति,

कोड़ा, मकोड़ा, पशु, पक्षी आदि अनेक शरीरोंको धारण करती है और न जाने इसे कौन-कौन शरीर धारण करना पड़ेंगे। मनुष्योंमें जिन्हें हम नीच, अच्छूत आदि कहकर दुरदुराते हैं और अपनी स्वार्थपूर्ण सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं और बन्धनोंसे उन समानाधिकारी मनुष्योंके अधिकारोंका निर्दलन करके उनके विकासको रोकते हैं, उन नीच और अच्छूतोंमें भी हम उत्पन्न हुए होंगे। आज मनमें दूसरोंके प्रति उन्हीं कुत्सित भावोंको जाग्रत करके उस परिस्थितिका निर्माण अवश्य ही कर रहे हैं जिससे हमारी उन्हींमें उत्पन्न होनेकी अधिक सम्भावना है। उन सूक्ष्म निगोदसे लेकर मनुष्यों तकके हमारे सीधे सम्पर्कमें आनेवाले प्राणियोंके मूलभूत स्वरूप और अधिकारको समझे बिना हम उनपर करुणा, दया आदिके भाव ही नहीं ला सकते, और न समानाधिकारमूलक परम अहिंसाके भाव ही जाग्रत कर सकते हैं। चित्तमें जब उन समस्त प्राणियोंमें आत्मोपम्यकी पुण्य भावना लहर मारती है तभी हमारा प्रत्येक उच्छ्वास उनकी मंगलकामनासे भरा हुआ निकलता है और इस पवित्र धर्मको नहीं समझनेवाले संघर्षशील हिंसकोंके शोषण और निर्दलनसे पिसती हुई आत्माके उद्धारकी छटपटाहट उत्पन्न हो सकती है। इस तत्त्वज्ञानकी सुवाससे ही हमारी परिणति परपदार्थोंके संग्रह और परिग्रहकी दुष्प्रवृत्तिसे हटकर लोककल्याण और जीवसेवा की ओर झुकती है। अतः अहिंसाकी सर्वभूतमैत्रीकी उत्कृष्ट साधनाके लिए सर्वभूतोंके स्वरूप और अधिकारका ज्ञान तो पहले चाहिये ही। न केवल ज्ञान ही, किन्तु चाहिये उसके प्रति दृढ़ निष्ठा।

इसी सर्वात्मसमत्वकी मूलज्योति महावीर बननेवाले क्षत्रिय राजकुमार वर्धमानके मनमें जगी थी और तभी वे प्राप्तराजविभूतिको बन्धन मानकर बाहर भीतरकी सभी गाँठें खोलकर परमनिर्ग्रन्थ बने और जगत्में मानवताको वर्णभेदको चक्कीमें पीसनेवाले तथोक्त उच्चाभिमानियोंको झकझोरकर एक बार रुककर सोचनेका शीतल वातावरण उपस्थित कर सके। उनने अपने त्याग और तपस्याके साधक जीवनसे महताका मापदण्ड ही बदल दिया और उन समस्त त्रासित, शोषित, अभिद्रावित और पीड़ित मनुष्यतनधारियोंको आत्मवत् समझ धर्मके क्षेत्रमें समानरूपसे अवसर देनेवाले समवसरणकी रचना की। तात्पर्य यह कि अहिंसाकी विविध प्रकारकी साधनाओंके लिए आत्माके स्वरूप और उसके मूल अधिकार-मर्यादाका ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना कि परपदार्थोंसे विवेक प्राप्त करनेके लिए 'पर' पुद्गलका ज्ञान। बिना इन दोनोंका वास्तविक ज्ञान हुए सम्यग्दर्शनकी वह अमरज्योति नहीं जल सकती, जिसके प्रकाशमें मानवता मुसकुराती है और सर्वात्मसमताका उदय होता है।

इस आत्मसमानाधिकारका ज्ञान और उसको जीवनमें उतारनेकी दृढ़निष्ठा ही सर्वोदयकी भूमिका हो सकती है। अतः वैयक्तिक दुःखकी निवृत्ति तथा जगत्में शान्ति स्थापित करनेके लिए जिन व्यक्तियोंसे यह जगत् बना है उन व्यक्तियोंके स्वरूप और अधिकारकी सीमाको हमें समझना ही होगा। हम उसकी तरफसे आँख मूँदकर तात्कालिक कष्ट या दयाके आँसू बहा भी लें, पर उसका स्थायी इलाज नहीं कर सकते। अतः भगवान् महावीरने बन्धनमुक्तिके लिये जो 'बँधा है तथा जिससे बँधा है' इन दोनों तत्त्वोंका परिज्ञान आवश्यक बताया। बिना इसके बन्धपरम्पराके समलोच्छेद करनेका सङ्कल्प ही नहीं हो सकता और चारित्रिक प्रति उत्साह ही हो सकता है। चारित्रिकी प्रेरणा तो विचारोंसे ही मिलती है।

२. अजीवतत्त्व

जिस प्रकार आत्मतत्त्वका ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार जिस अजीवके सम्बन्धसे आत्मा विकृत होता है, उसमें विभावपरिणति होती है उस अजीवतत्त्वके ज्ञानकी भी आवश्यकता है। जब तक हम इस अजीवतत्त्वको नहीं जानेंगे तब तक 'किन दोमें बन्ध हुआ है' यह मूल बात ही अज्ञात रह जाती है। अजीवतत्त्वमें धर्म, अधर्म, आकाश और कालका भले ही सामान्यज्ञान हो; क्योंकि इनसे आत्माका कोई भला बुरा

नहीं होता, परन्तु पुद्गल द्रव्यका किञ्चित् विशेषज्ञान अपेक्षित है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास और वचन आदि सब पुद्गलका ही हैं। जिसमें शरीर तो चेतनके संसर्गसे चेतनायमान हो रहा है। जगत्में रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले यावत् पदार्थ पौद्गलिक हैं। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि सभी पौद्गलिक हैं। इनमें किसीमें कोई गुण प्रकट रहता है और कोई अनुद्भूत। यद्यपि अग्निमें रस, वायुमें रूप और जलमें गन्ध अनुद्भूत है फिर भी ये सब पुद्गलजातीय ही पदार्थ हैं। शब्द, प्रकाश, छाया, अन्धकार, सर्दी, गर्मी सभी पुद्गल स्कन्धोंकी अवस्थाएँ हैं। मुमुक्षुके लिए शरीरकी पौद्गलिकताका ज्ञान तो इसलिए अत्यन्त जरूरी है कि उसके जीवनकी आसक्तिका मुख्य केन्द्र वही है। यद्यपि आज आत्माका ९९ प्रतिशत विकास और प्रकाश शरीराधीन है, शरीरके पुर्जोंके बिगड़ते ही वर्तमान ज्ञान-विकास रुक जाता है और शरीरके नाश होनेपर वर्तमान शक्तियाँ प्रायः समाप्त हो जाती हैं, फिर भी आत्माका अपना स्वतंत्र अस्तित्व तेल-बत्तीसे भिन्न ज्योतिकी तरह है ही। शरीरका अणु-अणु जिसकी शक्तिसे संचालित और चेतनायमान हो रहा है वह अन्तः-ज्योति दूसरी ही है। यह आत्मा अपने सूक्ष्म कर्मणशरीरके अनुसार वर्तमान स्थूल शरीरके नष्ट हो जानेपर दूसरे स्थूल शरीरको धारण करता है। आज तो आत्माके सात्त्विक, राजस और तामस सभी प्रकारके विचार और संस्कार कर्मणशरीर और प्राप्त स्थूल शरीरके अनुसार ही विकसित हो रहे हैं। अतः मुमुक्षु के लिए इस शरीर—पुद्गलकी प्रकृतिका परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, जिससे वह इसका उपयोग आत्माके विकासमें कर सके, ह्रासमें नहीं। यदि आहार-विहार उत्तेजक होता है तो कितना ही पवित्र विचार करनेका प्रयास किया जाय, पर सफलता नहीं मिल सकती। इसलिये बुरे संस्कार और विचारोंका शमन करनेके लिए या क्षीण करनेके लिए उनके प्रबल निमित्तभूत शरीरकी स्थिति आदिका परिज्ञान करना ही होगा। जिन परपदार्थोंसे आत्माको विरक्त होना है और जिन्हें 'पर' समझकर उनकी छीना-झपटीकी द्वन्द्वदशासे ऊपर उठना है और उनके परिग्रह और संग्रहमें ही जीवनका बहुभाग नहीं नष्ट करना है तो उस परको 'पर' समझना ही होगा।

३. बन्धतत्त्व

दो पदार्थोंके विशिष्ट सम्बन्धको बन्ध कहते हैं। बन्ध दो प्रकारका है—एक भावबन्ध और दूसरा द्रव्यबन्ध। जिन राग-द्वेष और मोह आदि विकारी भावोंसे कर्मका बन्धन होता है उन भावोंको भावबन्ध कहते हैं। कर्मपुद्गलोंका आत्मप्रदेशोंसे सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध कहलाता है। द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्गलका सम्बन्ध है। यह तो निश्चित है कि दो द्रव्योंका संयोग ही हो सकता है, तादात्म्य अर्थात् एकत्व नहीं। दो मिलकर एक देखें, पर, एककी सत्ता मिटकर एक शेष नहीं रह सकता। जब पुद्गलाणु परस्परमें बन्धको प्राप्त होते हैं तो भी वे एक विशेष प्रकारके संयोगको ही प्राप्त करते हैं। उनमें स्निग्धता और रूक्षताके कारण एक रासायनिक मिश्रण होता है, जिसमें उस स्कन्धके अन्तर्गत सभी परमाणुओंकी पर्याय बदलती है और वे ऐसी स्थितिमें आ जाते हैं कि अमुक समय तक उन सबकी एक जैसी पर्याय होती रहती है। स्कन्ध अपनेमें कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है किन्तु वह अमुक परमाणुओंकी विशेष अवस्था ही है और अपने आधारभूत परमाणुओंके अधीन ही उसकी दशा रहती है। पुद्गलोंके बन्धमें यही रासायनिकता है कि उस अवस्थामें उनका स्वतंत्र विलक्षण परिणमन नहीं होकर प्रायः एक जैसा परिणमन होता है परन्तु आत्मा और कर्म-पुद्गलोंका ऐसा रासायनिक मिश्रण हो ही नहीं सकता। यह बात जुदा है कि कर्मस्कन्धके आ जानेसे आत्मा के परिणमनमें विलक्षणता आ जाती है और आत्माके निमित्तसे कर्मस्कन्धकी परिणति विलक्षण हो जाती है; पर इतने मात्रसे इन दोनोंके सम्बन्धको रासायनिकमिश्रण संज्ञा नहीं दी जा सकती; क्योंकि जीव और कर्मके

२७२ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

बन्धमें दोनोंकी एक जैसी पर्याय नहीं होती। जीवकी पर्याय चेतनरूप होती है और पुद्गलकी अचेतनरूप। पुद्गलका परिणमन रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादिरूपसे होता है और जीव चैतन्यके विकासरूपसे।

चार बन्ध

यह वास्तविक स्थिति है कि नूतन कर्मपुद्गलोंका पुराने बँधे हुए कर्मशरीरके साथ रासायनिक मिश्रण हो जाय और वह नूतन कर्म उस पुराने कर्मपुद्गलके साथ बँधकर उसी स्कन्धमें शामिल हो जाय और होता भी यही है। पुराने कर्मशरीरसे प्रतिक्षण अमुक परमाणु खिरते हैं और उसमें कुछ दूसरे नये शामिल होते हैं। परन्तु आत्मप्रदेशोंसे उनका बन्ध रासायनिक हर्गिज नहीं है। वह तो मात्र संयोग है। यही प्रदेशबन्ध कहलाता है। प्रदेशबन्धकी व्याख्या तत्त्वार्थसूत्र (८।२४) में इस प्रकारकी है—“नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः।” अर्थात् योगके कारण समस्त आत्मप्रदेशोंपर सभी ओरसे सूक्ष्म कर्मपुद्गल आकर एकक्षेत्रावगाही हो जाते हैं—जिस क्षेत्रमें आत्मप्रदेश है उसी क्षेत्रमें वे पुद्गल ठहर जाते हैं। इसीका नाम प्रदेशबन्ध है और द्रव्यबन्ध भी यही है। अतः आत्मा और कर्मशरीरका एकक्षेत्रावगाहके सिवाय अन्य कोई रासायनिक मिश्रण नहीं हो सकता। रासायनिक मिश्रण यदि होता है तो प्राचीन कर्मपुद्गलोंसे ही नवीन कर्मपुद्गलोंका, आत्मप्रदेशोंसे नहीं।

जीवके रागादिभावोंसे जो योग अर्थात् आत्मप्रदेशोंमें हलन-चलन होता है उससे कर्मके योग्य पुद्गल खिंचते हैं। वे स्थूल शरीरके भीतरसे भी खिंचते हैं और बाहरसे भी। इस योगसे उन कर्मवर्गणाओंमें प्रकृति अर्थात् स्वभाव पड़ता है। यदि वे कर्मपुद्गल किसीके ज्ञानमें बाधा डालनेवाली क्रियासे खिंचे हैं तो उनमें ज्ञानके आचरण करनेका स्वभाव पड़ेगा और यदि रागादि कषायोंसे खिंचे हैं, तो चारित्र्यके नष्ट करनेका। तात्पर्य यह कि आए हुए कर्मपुद्गलोंको आत्मप्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाही कर देना तथा उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि स्वभावोंका पड़ जाना योगसे होता है। इन्हें प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कषायोंकी तीव्रता और मन्दताके अनुसार उस कर्मपुद्गलमें स्थिति और फल देनेकी शक्ति पड़ती है, यह स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कहलाता है। ये दोनों बन्ध कषायसे होते हैं। केवली अर्थात् जीवन्मुक्त व्यक्तिको रागादि कषाय नहीं होती, अतः उनके योगके द्वारा जो कर्मपुद्गल आते हैं वे द्वितीय समयमें झड़ जाते हैं। उनका स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होता। यह बन्धचक्र, जबतक राग, द्वेष, मोह और वासनाएँ आदि विभाव भाव हैं, तब तक बराबर चलता रहता है।

४. आस्रव-तत्त्व

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्धके कारण हैं। इन्हें आस्रव-प्रत्यय भी कहते हैं। जिन भावोंसे कर्मोंका आस्रव होता है उन्हें भावास्रव कहते हैं और कर्मद्रव्यका आना द्रव्यास्रव कहलाता है। पुद्गलोंमें कर्मत्वपर्यायिका विकास होना भी द्रव्यास्रव कहा जाता है। आत्मप्रदेशों तक उनका आना भी द्रव्यास्रव है। यद्यपि इन्हीं मिथ्यात्व आदि भावोंको भावबन्ध कहा है, परन्तु प्रथमक्षणभावी ये भाव चूँकि कर्मोंको खींचनेकी साक्षात् कारणभूत योगक्रियामें निमित्त होने हैं अतः भावास्रव कहे जाते हैं और अग्रिमक्षणभावी भाव भावबन्ध। भावास्रव जैसा तीव्र, मन्द और मध्यम होता है, तज्जन्य आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द अर्थात् योग क्रियासे कर्म भी वैसे ही आते हैं और आत्मप्रदेशोंसे बँधते हैं।

मिथ्यात्व

इन आस्रवोंमें मुख्य अनन्तकर्मबन्धक है मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादृष्टि। यह जीव अपने आत्मस्वरूपको भूलकर शरीरादि परद्रव्यमें आत्मबुद्धि करता है। इसके समस्त विचार और क्रियाएँ शरीराश्रित व्यवहारोंमें

उलझी रहती है। लौकिक यश, लाभ आदिकी दृष्टिसे यह धर्मका आचरण करता है। इसे स्वपरविवेक नहीं रहता। पदार्थोंके स्वरूपमें भ्रान्ति बनी रहती है। तात्पर्य यह कि कल्याणमार्गमें इसकी सम्यक् श्रद्धा नहीं होती। यह मिथ्यात्व सहज और गृहीत दो प्रकारका होता है। इन दोनों मिथ्यादृष्टियोंसे इसे तत्त्वरुचि जागृत नहीं होती। यह अनेक प्रकारकी देव, गुरु तथा लोकमूढताओंकी धर्म मानता है। अनेक प्रकारके ऊँच-नीच भेदोंकी सृष्टि करके मिथ्या अहंकारका पोषण करता है। जिस किसी देवको, जिस किसी भी वेषधारी गुरुको, जिस किसी भी शास्त्रको भय, आशा, स्नेह और लोभसे माननेको तैयार हो जाता है। न उसका अपना कोई सिद्धान्त होता है और न व्यवहार। थोड़ेसे प्रलोभनसे वह सभी अनर्थ करनेको प्रस्तुत हो जाता है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीरके मदसे मत्त होता है और दूसरोंको तुच्छ समझ उनका तिरस्कार करता है। भय, स्वार्थ, घृणा, परनिन्दा आदि दुर्गुणोंका केन्द्र होता है। इसकी समस्त प्रवृत्तियोंके मूलमें एक ही कुटेव रहती है और वह है स्वरूपविभ्रम। उसे आत्मस्वरूपका कोई श्रद्धान नहीं होता, अतः वह बाह्यपदार्थोंमें लुभाया रहता है। यही मिथ्यादृष्टि समस्त दोषोंकी जननी है, इसीसे अनन्त संसारका बन्ध होता है।

अविरति

सदाचार या चारित्र्य धारण करनेकी ओर रुचि या प्रवृत्ति नहीं होना अविरति है। मनुष्य कदाचित् चाहे भी, पर कषायोंका ऐसा तीव्र उदय होता है जिससे न तो वह सकलचारित्र्य धारण कर पाता है और न देशचारित्र्य ही।

क्रोधादि कषायोंके चार भेद चारित्र्यको रोकनेकी शक्तिकी अपेक्षासे भी होते हैं—

१. अनन्तानुबन्धी—अनन्त संसारका बन्ध करानेवाली, स्वरूपाचरणचारित्र्य न होने देनेवाली, पत्थरकी रेखाके समान कषाय। यह मिथ्यात्वके साथ रहती है।

२. अप्रत्याख्यानावरण—देशचारित्र्य अर्थात् श्रावकके अणुव्रतोंको रोकनेवाली, मिट्टीकी रेखाके समान कषाय।

३. प्रत्याख्यानावरण—सकलचारित्र्यको न होने देनेवाली, धूलिकी रेखाके समान कषाय।

४. संज्वलन कषाय—पूर्ण चारित्र्यमें किंचित् दोष उत्पन्न करनेवाली, जलरेखाके समान कषाय। इसके उदयसे यथाख्यातचारित्र्य नहीं हो पाता।

इस तरह इन्द्रियोंके विषयोंमें तथा प्राणिविषयक असंयममें निरर्गल प्रवृत्ति होनेसे कर्मोंका आस्रव होता है।

प्रमाद

असावधानीको प्रमाद कहते हैं। कुशल कर्मोंमें अनादर होना प्रमाद है। पाँचों इन्द्रियोंके विषयमें लीन होनेके कारण; राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा और भोजनकथा आदि विकथाओंमें रस लेनेके कारण; क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंसे कलुषित होनेके कारण; तथा निद्रा और प्रणयमें मग्न होनेके कारण कुशल कर्तव्य मार्गमें अनादरका भाव उत्पन्न होता है। इस असावधानीसे कुशलकर्मके प्रति अनास्था तो होती ही है साथ-ही-साथ हिंसाकी भूमिका भी तैयार होने लगती है। हिंसाके मुख्य हेतुओंमें प्रमादका प्रमुख स्थान है। दूसरे प्राणीका घात हो या न हो, प्रमादी व्यक्तिको हिंसाका दोष सुनिश्चित है। प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले अप्रमत्त साधनके द्वारा बाह्य हिंसा होनेपर भी वह अहिंसक ही है। अतः प्रमाद हिंसाका मुख्य द्वार है। इसीलिए भगवान् महावीरने बार-बार गौतम गणधरको चेताया था कि “समयं गोयम मा पमायए” अर्थात् गौतम, क्षणभर भी प्रमाद न कर।

कषाय

आत्माका स्वरूप स्वभावतः शान्त और निर्विकारी है। पर क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें उसे कस देती हैं और स्वरूपसे च्युत कर देती हैं। ये चारों आत्माकी विभाव दशाएँ हैं। क्रोध कषाय द्वेषरूप है। यह द्वेषका कारण और द्वेषका कार्य है। मान यदि क्रोधको उत्पन्न करता है तो द्वेषरूप है। लोभ रागरूप है। माया यदि लोभको जागृत करती है तो रागरूप है। तात्पर्य यह कि राग, द्वेष और मोहकी दोष-त्रिपुटीमें कषायका भाग ही मुख्य है। मोहरूपी मिथ्यात्वके दूर हो जानेपर सम्यग्दृष्टिको राग और द्वेष बने रहते हैं। इनमें लोभ कषाय तो पद, प्रतिष्ठा, यशकी लिप्सा और संघवृद्धि आदिके रूपमें बड़े-बड़े मुनियोंको भी स्वरूपस्थित नहीं होने देती। यह राग-द्वेषरूप द्वन्द्व ही समस्त अनर्थोंका मूल है। यही प्रमुख आस्रव है। न्यायसूत्र, गीता और पाली पिटकोंमें भी इस द्वन्द्वको पापका मूल बताया है। जैनागमोंका प्रत्येक वाक्य कषाय-शमनका ही उपदेश देता है। जैन उपासनाका आदर्श परम निर्ग्रन्थ दशा है। यही कारण है कि जैन मूर्तियाँ वीतरागता और अकिञ्चनताकी प्रतीक होती हैं। न उनमें द्वेषका साधन आयुध है और न रागका आधार स्त्री आदिका साहचर्य ही। वे सर्वथा निर्विकार होकर परमवीतरागता और अकिञ्चनताका पावन संदेश देती हैं।

इन कषायोंके सिवाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नव नोकषायें हैं। इनके कारण भी आत्मामें विकारपरिणति उत्पन्न होती है। अतः ये भी आस्रव हैं।

योग

मन, वचन और कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें जो परिस्पन्द अर्थात् क्रिया होती है उसे 'योग' कहते हैं। योगकी साधारण प्रसिद्धि योगभाष्य आदिमें यद्यपि चित्तवृत्तिके निरोधरूप ध्यानके अर्थमें है, परन्तु जैन परम्परामें चूँकि मन, वचन और कायसे होनेवाली क्रिया कर्मपरमाणुओंसे आत्माका योग अर्थात् सम्बन्ध कराती है, इसलिए इसे ही योग कहते हैं और इसके निरोधको ध्यान कहते हैं। आत्मा सक्रिय है, उसके प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है। मन, वचन और कायके निमित्तसे सदा उसमें क्रिया होती रहती है। यह क्रिया जीवन्मुक्तके बराबर होती है। परममुक्तिसे कुछ समय पहले अयोगकेवली अवस्थामें मन, वचन और कायकी क्रियाका निरोध होता है, और तब आत्मा निर्मल और निश्चल बन जाता है। सिद्ध अवस्थामें आत्माके पूर्ण शुद्ध रूपका आविर्भाव होता है। न तो उसमें कर्मजन्य मलिनता ही रहती है और न योगकी चंचलता ही। सच पूछा जाय तो योग ही आस्रव है। इसीके द्वारा कर्मोंका आगमन होता है। शुभ योग पुण्यकर्मका आस्रव कराता है और अशुभयोग पापकर्मका। सबका शुभ चिन्तन यानी अहिंसक विचारधारा शुभ मनोयोग है। हित, मित, प्रिय वचन बोलना शुभ वचनयोग है और परको बाधा न देनेवाली यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति शुभ-काय होता है। और इनसे विपरीत चिन्तन, वचन तथा काय-प्रवृत्ति अशुभ मन-वचन-काययोग है।

दो आस्रव

सामान्यतया आस्रव दो प्रकारका होता है। एक तो कषायानुरजित योगसे होनेवाला साम्परायिक आस्रव—जो बन्धका हेतु होकर संसारकी वृद्धि करता है। दूसरा मात्र योगके होनेवाला ईर्यापथ आस्रव—जो कषायका चेंप न होनेके कारण आगे बन्धन नहीं कराता। यह आस्रव जीवन्मुक्त महात्माओंके जब तक शरीरका सम्बन्ध है, तब तक होता है। इस तरह योग और कषाय, दूसरेके ज्ञानमें बाधा पहुँचाना, दूसरेको

कष्ट पहुँचाना, दूसरेकी निन्दा करना आदि जिस-जिस प्रकारके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय आदि क्रियाओंमें संलग्न होते हैं, उस-उस प्रकारसे उन-उन कर्मोंका आस्रव और बन्ध कराते हैं। जो क्रिया प्रधान होती है उससे उस कर्मका बन्ध विशेष रूपसे होता है, शेष कर्मोंका गौण। परभवमें शरीरादिकी प्राप्तिके लिए आयु कर्मका आस्रव वर्तमान आयुके त्रिभागमें होता है। शेष सात कर्मोंका आस्रव प्रतिसमय होता रहता है।

५. मोक्षतत्त्व

बन्धन-मुक्तिको मोक्ष कहते हैं। बन्धके कारणोंका अभाव होनेपर तथा संचित कर्मोंकी निजंरा होनेसे समस्त कर्मोंका समूल उच्छेद होना मोक्ष है। आत्माकी वैभाविकी शक्तिका संसार अवस्थामें विभाव परिणमन होता है। विभाव परिणमनके निमित्त हट जानेसे मोक्ष दशामें उसका स्वाभाविक परिणमन हो जाता है। जो आत्माके गुण विकृत हो रहे थे वे ही स्वाभाविक दशामें आ जाते हैं। मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शन बन जाता है, अज्ञान ज्ञान ज्ञान जाता है और अचारित्र चारित्र। इस दशामें आत्माका सारा नकशा ही बदल जाता है। जो आत्मा अनादिकालसे मिथ्यादर्शन आदि अशुद्धियों और कलुषताओंका पुञ्ज बना हुआ था, वही निर्मल, निश्चल और अनन्त चैतन्यमय हो जाता है। उसका आगे सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। वह निस्तरंग समुद्रकी तरह निर्विकल्प, निश्चल और निर्मल हो जाता है। न तो निर्वाण दशामें आत्माका अभाव होता है और न वह अचेतन ही हो जाता है। जब आत्मा एक स्वतन्त्र मौलिक द्रव्य है, तब उसके अभावकी या उसके गुणोंके उच्छेदकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्रतिक्षण कितने ही परिवर्तन होते जाँय, पर विश्वके रंगमञ्चसे उसका समूल उच्छेद नहीं हो सकता।

दीपनिर्वाणकी तरह आत्मनिर्वाण नहीं होता

बुद्धसे जब प्रश्न किया गया कि 'मरनेके बाद तथागत होते हैं या नहीं?' तो उन्होंने इस प्रश्नको अव्याकृत कोटिमें डाल दिया था। यही कारण हुआ कि बुद्धके शिष्योंने निर्वाणके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ कीं। एक निर्वाण वह, जिसमें चित्तसन्तति निरास्रव हो जाती है, यानी चित्तका मूल धुल धुल जाता है। इसे 'सोपधिशेष' निर्वाण कहते हैं। दूसरा निर्वाण वह, जिसमें दीपकके समान चित्तसंतति भी बुझ जाती है अर्थात् उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। यह 'निरुपधिशेष' निर्वाण कहलाता है। रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पंच स्कन्धरूप आत्मा माननेका यह सहज परिणाम था कि निर्वाण दशामें उसका अस्तित्व न रहे। आश्चर्य है कि बुद्ध निर्वाण और आत्माके परलोकगामित्वका निर्णय बताये बिना ही मात्र दुःखनिवृत्तिके सर्वाङ्गीण औचित्यका समर्थन करते रहे।

यदि निर्वाणमें चित्तसन्ततिका निरोध हो जाता है, वह दीपककी लौ की तरह बुझ जाती है, तो बुद्ध उच्छेदवादके दोषसे कैसे बच सके? आत्माके नास्तित्वसे इनकार तो वे इसी भयसे करते थे कि आत्माको नास्ति माना जाता है तो चार्वाककी तरह उच्छेदवादका प्रसंग आता है। निर्वाण अवस्थामें उच्छेद मानने और मरणके बाद उच्छेद माननेमें तात्त्विक दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है। बल्कि चार्वाकका सहज उच्छेद सबको सुकर क्या अनायाससाध्य होनेसे सुग्राह्य होगा और बुद्धका निर्वाणोत्तर उच्छेद अनेक प्रकारके ब्रह्म-चर्यवास और ध्यान आदिके कष्टसे साध्य होनेके कारण दुर्ग्राह्य होगा। जब चित्तसन्तति भौतिक नहीं है और उसकी संसार-कालमें प्रतिसंधि (परलोकगमन) होती है, तब निर्वाण अवस्थामें उसके समूलोच्छेदका कोई औचित्य समझमें नहीं आता। अतः मोक्ष अवस्थामें उस चित्तसंततिकी सत्ता मानना ही चाहिए, जो कि अनादिकालसे आस्रवमलोंसे मलिन हो रही थी और जिसे साधनाके द्वारा निरास्रव अवस्थामें पहुँचाया

गया है। तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (पृष्ठ १०४) में आचार्य कमलशीलने संसार और निर्वाणके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला यह प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है—

“चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् ।
तदेव तैविनिमुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥”

अर्थात्—रागादि क्लेश और वासनामय चित्तको संसार कहते हैं और जब वही चित्त रागादि क्लेश और वासनाओंसे मुक्त हो जाता है, तब उसे भवान्त अर्थात् निर्वाण कहते हैं। इस श्लोकमें प्रतिपादित संसार और मोक्षका स्वरूप ही युक्तिसिद्ध और अनुभवगम्य है। चित्तकी रागादि अवस्था संसार है और उसीकी रागादिरहितता मोक्ष^१ है। अतः समस्त कर्मोंके क्षयसे होनेवाला स्वरूपलाभ ही मोक्ष^२ है। आत्माके अभाव या चैतन्यके उच्छेदको मोक्ष नहीं कह सकते। रोगकी निवृत्तिका नाम आरोग्य है, न कि रोगीकी निवृत्ति या समाप्ति। दूसरे शब्दोंमें स्वास्थ्यलाभको आरोग्य कहते हैं, न कि रोगके साथ-साथ रोगीकी मृत्यु या समाप्तिको।

निर्वाणमें ज्ञानादि गुणोंका सर्वथा उच्छेद नहीं होता

वैशेषिक बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव विशेषगुणोंके उच्छेदको मोक्ष कहते हैं। इनका मानना है कि इन विशेष गुणोंकी उत्पत्ति आत्मा और मनके संयोगसे होती है। मनके संयोगके हट जानेसे ये गुण मोक्ष अवस्थामें उत्पन्न नहीं होते और आत्मा उस दशामें निर्गुण हो जाता है। जहाँ तक इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और सांसारिक दुःख-सुखका प्रश्न है, ये सब कर्मजन्य अवस्थायें हैं, अतः मुक्तिमें इनकी सत्ता नहीं रहती। पर बुद्धिका अर्थात् ज्ञानका, जो कि आत्माका निज गुण है, उच्छेद सर्वथा नहीं माना जा सकता। हाँ, संसार अवस्थामें जो खंडज्ञान मन और इन्द्रियके संयोगसे उत्पन्न होता था, वह अवश्य ही मोक्ष अवस्थामें नहीं रहता, पर जो इसका स्वरूपभूत चैतन्य है, जो इन्द्रिय और मनसे परे है, उसका उच्छेद किसी भी तरह नहीं हो सकता। आखिर निर्वाण अवस्थामें जब आत्माको स्वरूपस्थिति वैशेषिकको स्वीकृत ही है तब यह स्वरूप यदि कोई हो सकता है तो वह उसका इन्द्रियातीत चैतन्य ही हो सकता है। संसार अवस्थामें यही चैतन्य इन्द्रिय, मन और पदार्थ आदिके निमित्तसे नानाविध विषयाकार बुद्धियोंके रूपमें परिणति करता था। इन उपाधियोंके हट जानेपर उसका स्वस्वरूपमग्न होना स्वाभाविक ही है। कर्मके क्षयोपशमसे होनेवाले क्षायोपशमिक ज्ञान तथा कर्मजन्य सुखदुःखादिका विनाश तो जैन भी मोक्ष अवस्थामें मानते हैं, पर उसके निज चैतन्यका विनाश तो स्वरूपोच्छेदक होनेसे कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मिलिन्द-प्रश्नके निर्वाण वर्णनका तात्पर्य

मिलिन्द-प्रश्नमें निर्वाणका जो वर्णन है उसके निम्नलिखित वाक्य ध्यान देते योग्य हैं। “तृष्णाके निरोध हो जानेसे उपादानका निरोध हो जाता है, उपादानके निरोधसे भवका निरोध हो जाता है, भवका निरोध होनेसे जन्म लेना बन्द हो जाता है, पुनर्जन्मके बन्द होनेसे बूढ़ा होना, मरना, शोक, रोना,

१. ‘मुक्तिनिर्मलता धियः ।’—तत्त्वसंग्रह पृष्ठ १८४

२. “आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात् ।

नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥”

—सिद्धिवि० पृ० ३८४

पीटना, दुःख, बेचैनी और परेशानी सभी दुःख रुक जाते हैं। महाराज, इस तरह निरोध हो जाना ही निर्वाण है।” (पृ० ८५)

“निर्वाण न कर्मके कारण, न हेतुके कारण और न ऋतुके कारण उत्पन्न होता है।” (पृ० ३२९)

“हाँ महाराज, निर्वाण निर्गुण है, किसीने इसे बनाया नहीं है। निर्वाणके साथ उत्पन्न होने और न उत्पन्न होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। उत्पन्न किया जा सकता है अथवा नहीं, इसका भी प्रश्न नहीं आता। निर्वाण वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों कालोंके परे है। निर्वाण न आँखसे देखा जा सकता है, न कानसे सुना जा सकता है, न नाकसे सूँघा जा सकता है, न जीभसे चखा जा सकता है और न शरीरसे छुआ जा सकता है। निर्वाण मनसे जाना जा सकता है। अर्हत् पदको पाकर भिक्षु विशुद्ध, प्रणीत, ऋजु तथा आवरणों और सांसारिक कामोंसे रहित मनसे निर्वाणको देखता है।” (पृ० ३३२)

“निर्वाणमें सुख ही सुख है, दुःखका लेश भी नहीं रहता” (पृ० ३८६)

“महाराज, निर्वाणमें ऐसी कोई भी बात नहीं है, उपमाएँ दिखा, व्याख्या कर, तर्क और कारणके साथ निर्वाणके रूप, स्थान, काल या डीलडौल नहीं दिखाये जा सकते।” (पृ० ३८८)

“महाराज, जिस तरह कमल पानीसे सर्वथा अलिप्त रहता है उसी तरह निर्वाण सभी क्लेशोंसे अलिप्त रहता है। निर्वाण भी लोगोंकी कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णाकी प्यासको दूर कर देता है।” (पृ० ३९१)

“निर्वाण देवाकी तरह क्लेशरूपी विषको शान्त करता है, दुःखरूपी रोगोंका अन्त करता है और अमृतरूप है। वह महासमुद्रकी तरह अपरम्पार है। वह आकाशकी तरह न पैदा होता है, न पुराना होता है, न मरता है, न आवागमन करता है, दुर्जय है, चोरोसे नहीं चुराया जा सकता, किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहता, स्वच्छन्द खुला और अनन्त है। वह मणिरत्नकी तरह सारी इच्छाओंको पूरा कर देता है, मनोहर है, प्रकाशमान है और बड़े कामका होता है। वह लाल चन्दनकी तरह दुर्लभ, निराली गंधवाला और सज्जनों द्वारा प्रशंसित है। वह पहाड़की चोटीकी तरह अत्यन्त ही ऊँचा, अचल, अगम्य, राग-द्वेषरहित और क्लेश बीजोंके उपजनेके अयोग्य है। वह जगह न तो पूर्व दिशाकी ओर है, न पश्चिम दिशाकी ओर, न उत्तर दिशाकी ओर और न दक्षिण दिशाकी ओर, न ऊपर, न नीचे और न टेढ़े। जहाँ कि निर्वाण छिपा है। निर्वाणके पाये जानेकी कोई जगह नहीं है, फिर भी निर्वाण है। सच्ची राह पर चल, मनको ठीक ओर लगा निर्वाणका साक्षात्कार किया जा सकता है।” (पृ० ३९२-४०३ तक हिन्दी अनुवाद का सार)

इन अवतरणोंसे यह मालूम होता है कि बुद्ध निर्वाणका कोई स्थान विशेष नहीं मानते थे और न किसी कालविशेषमें उत्पन्न या अनुत्पन्नकी चर्चा इसके सम्बन्धमें की जा सकती है। वैसे उसका जो स्वरूप “इन्द्रियातीत सुखमय, जन्म, जरा, मृत्यु आदिके क्लेशोंसे शून्य” इत्यादि शब्दोंके द्वारा वर्णित होता है, वह शून्य या अभावात्मक निर्वाणका न होकर सुखरूप निर्वाण का है।

निर्वाणको बुद्धने आकाशकी तरह असंस्कृत कहा है। असंस्कृतका अर्थ है जिसके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य न हों। जिसकी उत्पत्ति या अनुत्पत्ति आदिका कोई विवेचन नहीं हो सकता हो, वह असंस्कृत पदार्थ है। माध्यमिक कारिकाकी संस्कृत-परीक्षामें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको संस्कृतका लक्षण बताया है। सो यदि असंस्कृतता निर्वाणके स्थानके सम्बन्धमें है तो उचित ही है; क्योंकि यदि निर्वाण किसी स्थानविशेषपर है, तो वह जगत्की तरह सन्ततिकी दृष्टिसे अनादि अनन्त ही होगा; उसके उत्पाद-अनुत्पादकी चर्चा ही व्यर्थ है। किन्तु उसका स्वरूप जन्म, जरा, मृत्यु आदि समस्त क्लेशोंसे रहित सुखमय ही हो सकता है।

२७८ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

अश्वघोषने सौन्दरनन्दमें (१६ । २८, २९) निर्वाण प्राप्त आत्माके सम्बन्धमें जो यह लिखा है^१ कि तेलके चुक जानेपर दीपक जिस तरह न किसी दिशाको, न किसी विदिशाको, न आकाशको और न पृथ्वी को जाता है किन्तु केवल बुझ जाता है, उसी तरह कृती क्लेशोंका क्षय होनेपर किसी दिशा-विदिशा, आकाश या पातालको नहीं जाकर शान्त हो जाता है। यह वर्णन निर्वाणके स्थानविशेषकी तरफ ही लगता है न कि स्वरूपकी तरफ। जिस तरह संसारी आत्माका नाम, रूप और आकारादि बताया जा सकता है, उस तरह निर्वाण अवस्थाको प्राप्त व्यक्तिका स्वरूप नहीं समझाया जा सकता।

वस्तुतः बुद्धने आत्माके स्वरूपके प्रश्नको ही जब अव्याकृत करार दिया, तब उसकी अवस्थाविशेष-निर्वाणके सम्बन्धमें विवाद होना स्वाभाविक ही था। भगवान् महावीरने मोक्षके स्वरूप और स्थान दोनोंके सम्बन्धमें सयुक्तिक विवेचन किया है। समस्त कर्मोंके विनाशके बाद आत्माके निर्मल और निश्चल चैतन्य-स्वरूपकी प्राप्ति ही मोक्ष है और मोक्ष अवस्थामें यह जीव समस्त स्थूल और सूक्ष्म शारीरिक बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त होकर लोकके अग्रभागमें अन्तिम शरीरके आकार होकर ठहरता है। आगे गतिके सहायक धर्म-द्रव्यके न होनेसे गति नहीं होती।

मोक्ष न कि निर्वाण

जैन परम्परामें मोक्ष शब्द विशेष रूपसे व्यवहृत होता है उसका सीधा अर्थ है छूटना अर्थात् अनादिकालसे जिन कर्मबन्धनोंसे यह आत्मा जकड़ा हुआ था, उन बन्धनोंकी परतन्त्रताको काट देना। बन्धन कट जानेपर जो बँधा था, वह स्वतन्त्र हो जाता है। यही उसकी मुक्ति है किन्तु बौद्ध परम्परामें 'निर्वाण' अर्थात् दीपककी तरह बुझ जाना, इस शब्दका प्रयोग होनेसे उसके स्वरूपमें ही घुटाला हो गया है। क्लेशोंके बुझने की जगह आत्माका बुझना ही निर्वाण समझ लिया गया है। कर्मोंके नाश करनेका अर्थ भी इतना ही है कि कर्मपुद्गल जीवसे भिन्न हो जाते हैं उनका अत्यन्त विनाश नहीं होता^२। किसी भी सत्का अत्यन्त विनाश न कभी हुआ है और न होगा। पर्यायान्तर होना ही 'नाश' कहा जाता है। जो कर्मपुद्गल अमुक आत्माके साथ संयुक्त होनेके कारण उस आत्माके गुणोंका घात करनेकी वजहसे उसके लिए कर्मत्व पर्यायको धारण किये थे, मोक्षमें उसकी कर्मत्व पर्याय नष्ट हो जाती है। यानी जिस प्रकार आत्मा कर्मबन्धनसे छूटकर शुद्ध सिद्ध हो जाता है उसी तरह कर्मपुद्गल भी अपनी पर्यायसे उस समय मुक्त हो जाते हैं। यों तो सिद्ध स्थान पर रहनेवाली आत्माओंके साथ पुद्गलों या स्कन्धोंका संयोग सम्बन्ध होता रहता है, पर उन पुद्गलोंकी उनके प्रति कर्मत्व पर्याय नहीं होती, अतः वह बन्ध नहीं कहा जा सकता। अतः जैन परम्परामें आत्मा और कर्मपुद्गलका सम्बन्ध छूट जाना ही मोक्ष है। इस मोक्षमें दोनों द्रव्य अपने निज स्वरूपमें बने रहते हैं, न तो आत्मा दीपककी तरह बुझ जाता है और न कर्मपुद्गलका ही सर्वथा समूल नाश होता है। दोनोंकी पर्यायान्तर हो जाती है। जीवकी शुद्ध दशा और पुद्गलकी यथासंभव शुद्ध या अशुद्ध कोई भी अवस्था हो जाती है।

५ संवर-तत्त्व

संवर रोकनेको कहते हैं। सुरक्षाका नाम संवर है। जिन द्वारोंसे कर्मोंका आस्रव होता था, उन द्वारों का निरोध कर देना संवर कहलाता है। आस्रव योगसे होता है, अतः योगकी निवृत्ति ही मूलतः संवरके

१. श्लोक पृ० १३९ पर देखो।

२. जीवाद् विश्लेषणं भेदः स तो नात्यस्तसंक्षयः" —आप्तप० श्लोक ११५।

पदपर प्रतिष्ठित हो सकती है। किन्तु मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको सर्वथा रोकना संभव नहीं है। शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए आहार करना, मलमूत्रका विसर्जन करना, चलना-फिरना, बोलना, रखना, उठाना आदि क्रियाएँ करनी ही पड़ती हैं। अतः जितने अंशोंमें मन, वचन और कायकी क्रियाओंका निरोध है, उतने अंशको गुप्ति कहते हैं। गुप्ति अर्थात् रक्षा। मन, वचन और कायकी अकुशल प्रवृत्तियोंसे रक्षा करना। यह गुप्ति ही संवरणका साक्षात् कारण है। गुप्तिके अतिरिक्त समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परी-षहजय और चारित्र्य आदिसे भी संवर होता है। समिति आदिमें जितना निवृत्तिका अंश है उनना संवरका कारण होता है और प्रवृत्तिका अंश शुभ बन्धका हेतु होता है।

समिति

समिति अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति, सावधानीसे कार्य करना। समिति पाँच प्रकार की है। ईर्या समिति—चार हाथ आगे देखकर चलना। भाषा समिति—हित-मित-प्रिय वचन बोलना। एषणा समिति—विधिपूर्वक निर्वोष आहार लेना। आदान-निक्षेपण समिति—देख-शोधकर किसी वस्तुका रखना, उठाना। उत्सर्ग समिति—देख-शोधकर निर्जन्तु स्थानपर मलमूत्रादिका विसर्जन करना।

धर्म

आत्मस्वरूपकी ओर ले जानेवाले और समाजको संधारण करनेवाले विचार और प्रवृत्तियाँ धर्म हैं। धर्म दश हैं। उत्तम क्षमा—क्रोधका त्याग करना। क्रोधके कारण उपस्थित होनेपर वस्तुस्वरूपका विचारकर विवेकजलसे उसे शान्त करना। जो क्षमा कायरताके कारण हो और आत्मामें दीनता उत्पन्न करे वह धर्म नहीं है, वह क्षमाभास है, दूषण है। उत्तम मार्दव—मृदुता, कोमलता, विनयभाव, मानका त्याग। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर आदिकी किञ्चित् विशिष्टताके कारण आत्मस्वरूपको न भूलना, इनका मद न चढ़ने देना। अहंकार दोष है और स्वाभिमान गुण। अहंकारमें दूसरेका तिरस्कार छिपा है और स्वाभिमानमें दूसरेके मानका सम्मान है। उत्तम आर्जव—ऋजुता, सरलता, मायाचारका त्याग। मन, वचन और कायकी कुटिलताको छोड़ना। जो मनमें हो, वही वचनमें और तदनुसार ही कायकी चेष्टा हो, जीवन-व्यवहारमें एकरूपता हो। सरलता गुण है और भोंदूपन दोष। उत्तम शौच—शुचिता, पवित्रता, निर्लोभ वृत्ति, प्रलोभनमें नहीं फँसना। लोभ कषायका त्यागकर मनमें पवित्रता लाना। शौच गुण है, परन्तु बाह्य सोला और चौकापंथ आदिके कारण छू-छू करके दूसरोंसे घृणा करना दोष है। उत्तम सत्य—प्रामाणिकता, विश्वास-परिपालन, तथ्य और स्पष्ट भाषण। सच बोलना धर्म है, परन्तु परनिन्दाके अभिप्रायसे दूसरोंके दोषोंका ढिंढोरा पीटना दोष है। परको बाधा पहुँचानेवाला सत्य भी कभी दोष हो सकता है। उत्तम संयम—इन्द्रिय-विजय और प्राणि-रक्षा। पाँचों इन्द्रियोंकी विषय-प्रवृत्तिपर अंकुश रखना, उनकी निरर्गल प्रवृत्तिको रोकना, इन्द्रियोंको वशमें करना। प्राणियोंकी रक्षाका ध्यान रखते हुए, खान-पान और जीवन-व्यवहारको अहिंसाकी भूमिकापर चलाना। संयम गुण है, पर भाव-शून्य बाह्य क्रियाकाण्डका अत्यधिक आग्रह दोष है। उत्तम तप—इच्छानिरोध। मनकी आशा और तृष्णाओं को रोककर प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य (सेवा), स्वाध्याय और व्युत्सर्ग (परिग्रहत्याग) की ओर चित्तवृत्तिका मोड़ना। ध्यान करना भी तप है। उपवास, एकाशन, रससत्य, एकान्तवास, मौन, कायक्लेश शरीरको सुकुमार न होने देना आदि बाह्य तप हैं। इच्छानिवृत्ति करके अकिञ्चन बननारूप तप गुण है और मात्र कायक्लेश करना, पंचाग्नि तपना, हठयोगी कठिन क्रियाएँ आदि बालतप हैं। उत्तम त्याग—दान देना, त्यागकी भूमिकापर आना। शक्त्यनुसार भूखोंको भोजन, रोगीको औषध, अज्ञाननिवृत्तिके लिए ज्ञानके साधन जुटाना और

२८० : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

प्राणिमात्रको अभय देना । देश और समाजके निर्माणके लिए, तन, धन आदिका त्याग । लाभ, पूजा और ख्याति आदिके उद्देश्यसे किया जानेवाला त्याग या दान उत्तम त्याग नहीं है । उत्तम आकिञ्चन्य—अकिञ्चनभाव, बाह्य पदार्थोंमें ममत्वका त्याग । धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रह तथा शरीरमें यह मेरा नहीं है, आत्माका धन तो उसके चैतन्य आदि गुण हैं, 'नास्ति मे किञ्चन'—मेरा कुछ नहीं, आदि भावनाएँ आकिञ्चन्य हैं । भौतिकतासे हटकर विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करना । उत्तम ब्रह्मचर्य—ब्रह्म अर्थात् आत्मस्वरूपमें विचरण करना । स्त्री-सुखसे विरक्त होकर समस्त शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियोंको आत्मविकासोन्मुख करना । मनकी शुद्धिके बिना केवल शारीरिक ब्रह्मचर्य न तो शरीरको ही लाभ पहुँचाता है और न मन तथा आत्मामें ही पवित्रता लाता है ।

अनुपेक्षा

सद्बिचार, उत्तम भावनाएँ और आत्मचिन्तन अनुप्रेक्षा है । जप्रत्की अनित्यता, अशरणता, संसारका स्वरूप, आत्माका अकेला ही फल भोगना, देहको भिन्नता और उसकी अपवित्रता, रागादि भावोंकी हेयता, सदाचारकी उपादेयता, लोकस्वरूपका चिन्तन और बोधिकी दुर्लभता आदिका बार-बार विचार करके चित्तको सुसंस्कारी बनाना, जिससे वह द्वन्द्व दशामें समताभाव रख सके । ये भावनाएँ चित्तको आस्रवकी ओरसे हटाकर संवरकी तरफ झुकाती हैं ।

परीषहजय

साधकको भूख, प्यास, ठंडी, गरमी, डौस-मच्छर, चलने-फिरने-सोने आदिमें कंकड़, काँटे आदिकी बाधाएँ, बध, आक्रोश और मल आदिकी बाधाओंको शान्तिसे सहना चाहिए । नग्न रहकर भी स्त्री आदिको देखकर प्रकृतिस्थ बने रहना, चिरतपस्या करनेपर भी यदि ऋद्धि-सिद्धि नहीं होती तो तपस्याके प्रति-अनादर नहीं होना और यदि कोई ऋद्धि प्राप्त हो जाय तो उसका गर्व नहीं करना, किसीके सत्कारना पुरस्कारमें हर्ष और अपमानमें खेद नहीं करना, भिक्षा-भोजन करते हुए भी आत्मामें दीनता नहीं आने दे इत्यादि परीषहोंके जयसे चारित्र्यमें दृढ़निष्ठा होती है और कर्मोंका आस्रव रुक कर संवर होता है ।

चारित्र्य

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका संपूर्ण परिपालन करना पूर्ण चारित्र्य है । चारित्र्यके सामायिक आदि अनेक भेद हैं । सामायिक—समस्त पापक्रियाओंका त्याग और समताभावकी आराधना । छेदोपस्थापना—व्रतोंमें दूषण लग जानेपर दोषका परिहार कर पुनः व्रतोंमें स्थिर होना । परिहारविशुद्धि—इस चारित्र्यके धारक व्यक्तिके शरीरमें इतना हलकापन आ जाता है कि सर्वत्र गमन आदि प्रवृत्तियाँ करनेपर भी उसके शरीरसे जीवोंकी विराधना—हिंसा नहीं होती । सूक्ष्मसाम्पराय—समस्त क्रोधादिकषायोंका नाश होनेपर बचे हुए सूक्ष्म लोभके नाशकी भी तैयारी करना । यथाख्यात—समस्त कषायोंके क्षय होनेपर जीवन्मुक्त व्यक्तिका पूर्ण आत्मस्वरूपमें विचरण करना । इस तरह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र्यसे कर्मशत्रुके आनेके द्वार बन्द हो जाते हैं । यही संवर है ।

६. निर्जरा तत्त्व

गुप्ति आदिसे सर्वतः संवृत—सुरक्षित व्यक्ति आगे आनेवाले कर्मोंको तो रोक ही देता है, साथ ही पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करके क्रमशः मोक्षको प्राप्त करता है । निर्जरा झड़नेको कहते हैं । यह दो प्रकार की है—एक औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा और दूसरी अनीपक्रमिक या सविपाक निर्जरा । तप आदि

साधनाओंके द्वारा कर्मोंको बलात् उदयमें लाकर बिना फल दिये झड़ा देना अविपाक निर्जरा है। स्वाभाविक क्रमसे प्रतिसमय कर्मोंका फल देकर झड़ते जाना सविपाक निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा प्रतिसमय हर एक प्राणीके होती ही रहती है। इसमें पुराने कर्मोंकी जगह नूतन कर्म लेते जाते हैं। गुप्ति, समिति और खासकर तपरूपी अग्निसे कर्मोंको फल देनेके पहले ही भस्म कर देना अविपाक या औपक्रमिक निर्जरा है। 'कर्मोंकी गति टल ही नहीं सकती' यह एकान्त नियम नहीं है। आखिर कर्म हैं क्या ? अपने पुराने संस्कार ही वस्तुतः कर्म हैं। यदि आत्मामें पुरुषार्थ है, और वह साधना करे; तो क्षणमात्रमें पुरानी वामनाएँ क्षीण हो सकती हैं।

“नाभुवन्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।”

अर्थात् 'सैकड़ों कल्पकाल बीत जानेपर भी बिना भोगे कर्मोंका नाश नहीं हो सकता।' यह मत प्रवाहपतित साधारण प्राणियोंको लागू होता है। पर जो आत्मपुरुषार्थी साधक हैं उनकी ध्यानरूपी अग्नि तो क्षणमात्रमें समस्त कर्मोंको भस्म कर सकती है—

“ध्यानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात् ।”

ऐसे अनेक महात्मा हुए हैं, जिन्होंने अपनी साधनाका इतना बल प्राप्त कर लिया था कि साधु-दीक्षा लेते ही उन्हें कैवल्यकी प्राप्ति हो गई थी। पुरानी वासनाओं और राग, द्वेष तथा मोहके कुसंस्कारोंको नष्ट करनेका एकमात्र मुख्य साधन है—'ध्यान'—अर्थात् चित्तको वृत्तियोंका निरोध करके उसे एकाग्र करना।

इस प्रकार भगवान् महावीरने बन्ध (दुःख), बन्धके कारण (आस्रव), मोक्ष और मोक्षके कारण (संवर और निर्जरा) इन पाँच तत्त्वोंके साथ-ही-साथ उम आत्मतत्त्वके ज्ञानकी खास आवश्यकता बताई जिससे बन्धन और मोक्ष होता है। इसी तरह उस अजीव तत्त्वके ज्ञानकी भी आवश्यकता है जिससे बँधकर यह जीव अनादिकालसे स्वरूपच्युत हो रहा है।

मोक्षके साधन

वैदिक संस्कृतिमें विचार या तत्त्वज्ञानको मोक्षका साधन माना है जब कि श्रमणसंस्कृति चारित्र्य अर्थात् आचारको मोक्षका साधन स्वीकार करती है। यद्यपि वैदिक संस्कृतिने तत्त्वज्ञानके साथ-ही-साथ वैराग्य और संन्यासको भी मुक्तिका अङ्ग माना है, पर वैराग्यका उपयोग तत्त्वज्ञानकी पुष्टिमें किया है, अर्थात् वैराग्यसे तत्त्वज्ञान पुष्ट होता है और फिर उससे मुक्ति मिलती है। पर जैन तीर्थंकरोंने “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः ।” (त० सू० १।१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यको मोक्षका मार्ग बताया है। ऐसा सम्यग्ज्ञान जो सम्यक्चारित्र्यका पोषक भाव वर्षक नहीं है, मोक्षका साधन नहीं होता। जो ज्ञान जीवनमें उतरकर आत्मशोधन करे, वही मोक्षका साधन है। अन्ततः सच्ची श्रद्धा और ज्ञानका फल चारित्र्य-शुद्धि ही है। ज्ञान थोड़ा भी हो, पर यदि वह जीवनशुद्धिमें प्रेरणा देता है तो मार्थक है। अहिंसा, संयम और तप साधनाएँ हैं, मात्र ज्ञानरूप नहीं हैं। कोरा ज्ञान भार ही है यदि वह आत्मशोधन नहीं करता। तत्त्वोंकी दृढ़ श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन मोक्षमहलकी पहिली सीढ़ी है। भय, आशा, स्नेह और लोभसे जो श्रद्धा चल और मलिन हो जाती है वह श्रद्धा अन्धविश्वासकी सीमामें ही है। जीवन्त श्रद्धा वह है जिसमें प्राणों तककी बाजी लगाकर तत्त्वको कायम रखा जाता है। उस परम अवगाढ़ दृढ़ निष्ठाको दुनियाका कोई भी प्रलोभन विचलित नहीं कर सकता, उसे हिला नहीं सकता। इस ज्योतिके जगते हो साधकको अपने लक्ष्यका स्पष्ट दर्शन होने लगता है। उसे प्रतिक्षण भेदविज्ञान और स्वानुभूति होता है। वह समझता है कि धर्म आत्म-

२८२ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

स्वरूपकी प्राप्तिमें है, न कि शुष्क बाह्य क्रियाकाण्डमें। इसलिये उसकी परिणति एक विलक्षण प्रकार की हो जाती है। आत्मकल्याण, समाजहित, देशनिर्माण और मानवताके उद्धारका स्पष्ट मार्ग उसकी आँखोंमें झूलता है और वह उसके लिये प्राणोंकी बाजी तक लगा देता है। स्वरूपज्ञान और स्वाधिकारकी मर्यादाका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। और अपने अधिकार और स्वरूपकी सुरक्षाके अनुकूल जीवनव्यवहार बनाना सम्यक्-चारित्र्य है। तात्पर्य यह कि आत्माकी वह परिणति सम्यक्चारित्र्य है जिसमें केवल अपने गुण और पर्यायों तक ही अपना अधिकार माना जाता है और जीवन-व्यवहारमें तदनुकूल ही प्रवृत्ति होती है, दूसरेके अधिकारों-को हड़पनेकी भावना भी नहीं होती। यह व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी स्वावलम्बी चर्या ही परम सम्यक्चारित्र्य है। अतः श्रमणसंस्कृतिने जीवनसाधना अहिंसाके मौलिक समत्वपर प्रतिष्ठित की है, और प्राणिमात्रके अभय और जीवित रहनेका सतत विचार किया है। निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे परिपुष्ट सम्यक्चारित्र्य ही मोक्षका साक्षात् साधन होता है।

